ॐ

नये बीज

हे प्रभो ! दृष्टिहीन मानव दृष्टि प्राप्त करें। विवेकहीन को विवेक प्राप्त हो। क्रोध से भरे हृदय शांत हों। प्रतिकार की भावना का स्थान क्षमा, दया, प्रेम ग्रहण करे। सम्यक् ज्ञान सबको सुलभ हो। विशुद्ध, निर्मल बुद्धिमत्ता मानव-चेतना पर छायी रहे। हम किसी को अपने से हीन न समझें। अपने व्यवहार में परस्पर मान प्रदान करें। सबको गले लगाने के लिए हर क्षण उद्यत रहें। आत्मा की दिव्य चेतना में मानव उठे। जीवन के हर क्षेत्र में उसका दृष्टिकोण विशाल हो। प्राणी मात्र को अपना आत्मीय समझे। सदा सत्य-चेतना से अधिकृत रहे। वही उसके जीवन में, विचारों में, कर्मों में चरितार्थ हो।

सुखवीर आर्य

नये बीज

सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द चेतना धारा ट्रस्ट
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : २००२

मुद्रक :
श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
पांडिचेरी

मूल्य : २५ रुपये

प्रकाशक :
श्रीअरविंद चेतना धारा ट्रस्ट
पांडिचेरी

PUBLISHED BY :

SRI AUROBINDO CHETANA DHARA TRUST, PONDICHERRY

प्रार्थना

देख रहा हूँ एक दिव्य कर्मी का महान पुरुषार्थ जिसने कल्प वृक्ष के पौधे को स्वर्ग से लाकर पृथ्वी पर स्थापित किया। अब कल्प वृक्ष पृथ्वी पर बढ़ रहा है। कल वह पृथ्वी की सम्पदा होगा। उसके पदार्थों में से एक होगा। किन्तु उसके सिंचन के लिए संसार का भौतिक जल उपयोगी नहीं।

एक अभियान का उपक्रम पृथ्वी के एक कोने में देखा जा रहा है। मातृशिशुओं का एक दल, भारत माता की कुछ प्रिय संतानें स्वर्ग की ओर अभियान कर रही हैं। जिसके फलस्वरूप स्वर्ग वारि का उत्स पृथ्वी पर उपलब्ध होगा।

हे प्रभो ! मैं तेरे चरणों में इन शिशुओं की सफलता के लिए प्रार्थना करता हूँ। ये विरोधी शक्तियों के प्रभाव से दूर रहें। तेरी कृपा इन पर सदा बनी रहे।

"एवमस्तु"

अनुक्रम

प्राक्कथन

हम मार्गों की बात नहीं करते। जिसकी प्रकृति के जो अनुकूल हो उसपर अग्रसर होना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। युग के अनुसार शास्त्रों की शिक्षा में, उसके व्यावहारिक पक्ष में परिवर्तन आना चाहिये। उसमें उत्थान का, विशालता का भाव बढ़ना चाहिये। हमारे कर्म, हमारे विचार ऐसे हों कि उनमें आंतरिक चेतना निर्बाध गति से प्रवाहित हो। आत्मा का सत्य, उसकी दिव्यता अधिक से अधिक प्रतिबिम्बित हो।

हम मुक्ति मोक्ष निर्वाण आदि लक्ष्यों की बात नहीं करते। ये लक्ष्य नहीं परमार्थ तत्व की अनुभव करने योग्य शास्त्रोक्त अवस्थाएँ हैं। इनकी अनुभूति हमारे आत्म-विकास को पूर्ण बनाने में अनिवार्य है। जिसके बिना हम सीमित व्यक्ति-चेतना की परिधि का अतिक्रमण करने में, उसके स्थान पर एक सीमाहीन अनन्त चेतना में निवास संभव बनाने में समर्थ नहीं होते। अगर इन्हें मानव-जीवन-लक्ष्य के रूप में निर्धारित करने की बात किन्हीं मनीषियों ने कही है तो अवश्य उन महापुरुषों की दृष्टि सीमित रही होगी, एक पक्षीय होगी। उन्हें जगत सच्चिदानंद की आत्म-अभिव्यक्ति दिखायी न देकर एक सारहीन-सा सिलसिला, प्रपंच मात्र दिखायी दिया होगा। शायद उन्होंने सृष्टि का मूल परमेश्वर को नहीं माना। इसके कण-कण में

उन्हें विद्यमान नहीं देखा। औपनिषदिक ऋषि-मुनियों की दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं थी, जो पदार्थ मात्र को ब्रह्म रूप देखती है। वे परम आत्मा के "हिरण्यगर्भ" में जगत के रूपान्तर की, इसमें स्थित पदार्थों के दिव्यीकरण की स्वर्णिम संभावना को नहीं देख पाये। अगर वे पदार्थों में छिपे सत्य को देख पाते, कभी जीवन और कर्मों के त्याग की बात न करते, "पलायन" का सिद्धान्त शास्त्रों में स्थान ग्रहण न कर पाता। उसे ही हम एक मात्र स्थायी सुख का मार्ग घोषित न करते। इसके विपरीत, हम श्रुतियों की ओर मुड़ते, उनकी शिक्षा में अधिक से अधिक गहरे पैठते। उनके ज्ञान को, उनके द्वारा विकीर्ण होती हुई अमृतमय ज्योति को आत्मसात करते। निश्चय ही तब हमारी दृष्टि परिवर्तित होती। दृष्टिकोण बदलता। हम जगत को भिन्न देखते, हमें पदार्थों में छिपी दिव्यता गोचर होती, यहाँ सब सच्चिदानन्द ब्रह्म दिखायी देता। जगत को उसकी देह, उसकी आत्म-अभिव्यक्ति अनुभव करते। इसके रूपान्तर की दिशा में, इसमें छिपे सत्य को चरितार्थ करने में स्वयं संलग्न होते तथा दूसरों को भी उसी ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करते। हमारे सम्मुख अन्य किसी धर्म की अथवा संघ की शरण ग्रहण करने का प्रश्न न उठता। हम नई चेतना में, अतिमानसिक चेतना में – जिसे श्रुति-शास्त्र 'महः' अथवा 'विज्ञानमयी चेतना' कहकर संबोधित करते हैं – उत्थान लाभ करते। पृथ्वी पर जिसका अवतरण श्रीअरविन्द के द्वारा संभव

हुआ है। जो हमें प्रथम अनुभूति में ही पदार्थों को देखने की समग्र दृष्टि प्रदान करती है। जहाँ सृष्टि-संबंधी सभी रहस्य हमारे सम्मुख उद्घाटित होते हैं। इसका औचित्य, इसका प्रयोजन हमारी समझ में आता है। जिस स्तर पर स्थित होते ही पदार्थ मात्र के अन्दर सच्चिदानन्दमय प्रभु के दर्शन होते हैं जो सृष्टि को, इसमें अवतरित जीवों को अपने हृदय में धारण किये इन्हें गन्तव्य की ओर ले जा रहे हैं। चेतना की उस उच्चता में अखिल सृष्टि हमें प्रभु की मधुमय मुस्कान दिखायी देती है। जिसे वे स्वयं अपने अंदर अपने लिए बिखेर रहे हैं।

जो जगत को मिथ्या कहते हैं, माया की रचना मानते हैं, इससे पलायन की बात करते हैं उनकी दृष्टि समग्र नहीं है। ये जगत को चरम एकत्व के अंदर, उससे ओत-प्रोत, उसके द्वारा धारित नहीं देखते हैं। परमेश्वर को विश्व-वृक्ष का मूल नहीं मानते हैं। जो अपने विकास की अवस्थाओं को एक-एक कर पार करता हुआ विकसित हो रहा है और एक दिन पूर्ण वृक्ष के रूप में, सत्, चित्, आनन्द रूपी पत्रों से, पुष्पों से, फलों से सुशोभित होगा। उसकी हर शाखा स्वर्णिम आभा से भासित होगी। जो मूल में है वही सम्पूर्ण वृक्ष में प्रतिबिम्बित होगा।

जो स्थायी सुख निर्वाण में खोजते हैं – जहाँ हम अस्तित्व-विहीन हो जाते हैं, जहाँ भोक्ता का व्यक्तित्व, उसका अस्तित्व रूपी प्रदीप स्वयं ही सदा के लिए निर्वापित हो जाता है – वे निस्संदेह भागवत कृपा से वंचित हैं, जिसकी सहायता

के बिना कोई जिज्ञासु सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य कभी नहीं जान सकता। कारण, सृष्टि का रहस्य जानने का अर्थ है सृष्टिकर्ता के, परम सत्ता के रहस्य के प्रति सचेतन होना। जिसे हम व्यक्ति-चेतना में निवास करते हुए केवल व्यक्तिगत पुरुषार्थ के द्वारा कभी उपलब्ध नहीं कर सकते।

परमात्मा मूल सत्य है। हम सृष्टि का मूल परमात्मा को मानते हैं। किसी अवर्णनीय माया को नहीं। जगत को परमात्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं। जगत अभिव्यक्ति-रूप सत्य है। जगत मिथ्या नहीं, छलना नहीं, ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो केवल प्रतीत होता है, केवल भासता है, वास्तव में है नहीं। हमारे भीतर इन महापुरुषों से कोई पूछ रहा है – भन्ते ! पलायन कहाँ, किससे ! लीला में भय, दुख-कष्ट कहाँ, यह तो आनन्द के लिए रचा एक नाटक है। इससे जुगुप्सा कैसी ! इतनी घबराहट क्यों ! इससे बाहर आने की इतनी शीघ्रता क्यों ! तू आनन्द है, आनन्द था, आनन्द रहेगा। अपरिवर्तनशील में परिवर्तन कहाँ ! अस्तित्व में अनस्तित्व के लिए स्थान कहाँ ! शून्य अथवा निर्वाण परम अस्तित्व की असंख्य अवस्थाओं में, आत्म-अभिव्यक्तियों में एक है। समग्र सत्ता नहीं। वहाँ, उस स्तर पर परा चेतना ने, चरम अस्तित्व ने अपने आपको पीछे खींचा हुआ है। मानव चेतना समग्र दृष्टि के अभाव में शून्य को, निर्वाण को ही पूर्ण सत्य समझती है। उसका अतिक्रमण नहीं कर पाती। उसे ही चरम अवस्था अनुभव करती है।

यहाँ श्रीअरविन्द के निर्वाण संबंधी एक अनुभव का वर्णन करना विषयान्तर न होगा। उन्होंने इसका वर्णन सुमधुर व्यंगात्मक भाषा में किया है। वे कहते हैं, "निर्वाण मेरे पास स्वयं आया। जबकि मैंने कभी उसके विषय में सोचा भी नहीं था। वह आया। यहाँ तक कि उसने शिष्टाचार की मर्यादा का भी पालन नहीं किया। मुझे यह भी नहीं पूछा 'क्या मैं अंदर आ सकता हूँ !' और सदा रहा।" इस घटना का यहाँ उल्लेख करने का हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि साधना के प्रारंभिक काल में श्रीअरविन्द लगभग डेढ़ वर्ष तक निर्वाण की अनुभूति में रहे और इसे ही आध्यात्मिक अनुभवों में सर्वोच्च समझते रहे। डेढ़ वर्ष के पश्चात् एक दिन निर्वाण के पार पहुँचने में सफल हुए। सर्वोच्च चेतना को उपलब्ध किया, जिसका यहाँ या वहाँ सब विस्तार है। श्रुति-शास्त्रों में जिसे चरम अनुभूति कहा गया है। मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण जिसकी अपनी अवस्थाएँ मात्र हैं।

देख रहा हूँ वे सब आत्माएँ – जिन्हें विद्वद्जन मुक्त समझते हैं – पृथ्वी पर हैं। मानवता के लिए उनका हृदय मंगल-कामनाओं से भरा है। अतिमानसिक व्योम के नीचे, नये क्षितिज के सम्मुख जो नई ज्योति से ज्योतित है, नई चेतना को विकीर्ण कर रहा है, भावी स्वर्णिम उषा के स्वागत में संलग्न हैं। एक बृहत् आभामय द्वार को खुलता वे देख रहे हैं। चांदी की सी घंटियों से मधुर ध्वनि झंकारित है। अलौकिक स्पंदनों से वसुन्धरा का वातावरण आह्लादित

है। जो उन सभी हृदयों में एक उच्च प्रेरणा के बीज बो रहा है जो आवरणहीन हैं। वे अनुभव कर रहे हैं – यह सीमाहीन सृष्टि उस अनंत महिमामय दिव्य जादूगर की दिव्य लीला है, जो इन प्राणियों तथा पदार्थों का निर्माण कर इनमें छिप गया है और अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के लिए इनके भीतर से बल लगा रहा है।

मूल अस्तित्व के साथ-साथ उसकी आत्म-अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि का भेद जानने के पश्चात् व्यक्ति-आत्मा पलायन की, जगत के त्याग की बात नहीं सोचती। वह नई उपलब्धि के आनन्द में, पृथ्वी पर उसकी संसिद्धि की चरितार्थता में सर्वस्व की आहुति प्रदान करने को उद्यत है। जगत के रूपान्तर की, इसके दिव्यीकरण की सुमधुर गुनगुनाहट उसके भीतर सुनायी पड़ रही है। जो यहाँ प्राणियों तथा पदार्थों की भावी नियति है।

हम चरम लक्ष्य की बात करते हैं। जो अपने मूल में भागवत संकल्प की चरितार्थता है। और अतिमानसिक चेतना के द्वारा हमारे हृदय में प्रेरित हुआ है। उस लक्ष्य की बात कह रहे हैं। जिसका व्यावहारिक रूप इस प्रकार है – यहाँ सब आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित हो। जो वस्तुओं में भीतर है बाहर प्रकट हो। पदार्थों का अंतर्निहित सत्य ऊपर आये। मौलिक दिव्यता से, सत्य से सब ओत-प्रोत हो। कण-कण में भागवत प्रेम प्रस्फुटित हो। सब अपने मूल स्वरूप से युक्त हो, आत्मा के आनंद में डूबा हो।

कर्मकांडों से भरी, रीति-रिवाजों पर निर्भर करनेवाली परम्परागत धार्मिकता से नहीं, धर्म-मूल परमात्मा की शरण ग्रहण करने से जीव का उद्धार होता है।

धर्म का प्रचार करने से नहीं, श्रुतिशास्त्रों का अध्ययन करने से, उनकी शिक्षा को व्यावहारिक रूप प्रदान करने से हम अहमात्मक सीमित चेतना से ऊपर उठते हैं। आत्म-सत्य में अपना निवास संभव बनाते हैं।

धार्मिक भाव को विस्तृत करने से नहीं; व्यक्ति-चेतना के उच्चतम विकास से, विश्व-चेतना में प्रवेश से, परम सत्ता के साथ सतत तादात्म्य लाभ करने से हम क्षुद्र अहं से, मिथ्यात्व से बाहर आते हैं।

बाह्य अग्नि में पदार्थों की आहुति देने से नहीं, अंतर्अग्नि में कामनाओं की, अपने अहंकार की आहुति देने से, जीवन को आहुति का रूप प्रदान करने से अर्थात् परमेश्वर को समर्पित जीवन जीने से हम जीवन का सर्वोच्च लाभ प्राप्त करते हैं जो कि मानव का, उसके जीवन का आत्मा की दिव्यता में उत्थान, उसमें दिव्यीकरण है।

जब हम परमेश्वर को समर्पित रहते हुए जीवन यापन करते हैं वे हमें अपनाते हैं। हमारे अंदर सक्रिय रूप में निवास करते हैं। जीवन मार्गों को ज्योतिर्मय करते हैं।

३

अतिमानसिक चेतना से प्रेरित हुआ मैं तेरे चरणों में बैठा। "भीतर झांक ! तू देखेगा तेरी आत्मा भव-उपवन के वर्तमान पुष्पों से, फलों से संतुष्ट नहीं है।" यह प्रथम वाणी थी। "भव-उपवन में नये बीजों का रोपण करना होगा। जिसके फलस्वरूप संसार में एक सामंजस्यपूर्ण जीवन तथा सत्यमय, प्रेममय वातावरण उत्पन्न हो सके।"

हर व्यक्ति अपने सच्चे स्वरूप में आनन्द-सिंधु से जुड़ा है। माधुर्य से भरा है। कितना अच्छा हो अगर हम भीतर भरे इस आनंद को, माधुर्य को अपने चारों ओर् निवास करनेवाले व्यक्तियों में प्रवाहित करें। अगर हम ऐसा करें, ऐसा करने का संकल्प लें तो यह संसार को एंक नई दिशा में मोड़ प्रदान करने का, नई सृष्टि के बीज बोने का दिव्य अभियान, एक दिव्य उपक्रम होगा।

हम अपनी चेतना में नये बीजों का रोपण करें। जो अपने मूल में दिव्य हैं, जिनका प्रस्फुटन एक दिव्य सृष्टि, दिव्य अभिव्यक्ति होगा। जो पृथ्वी पर मानव जीवन को दिव्यता में रूपांतरित करने में, उसे दिव्य संपदाओं से सजाने में समर्थ होंगे। जिनका उद्भव परम्परागत धारणाओं को, मानव-निर्मित धार्मिक संकीर्णताओं को पीछे छोड़ने में, उनका स्थान नई चेतना को, अतिमानसिक चेतना को प्रदान करने में समर्थ होगा।

सुखवीर आर्य
श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

सुहावनी संध्या

मनुष्य आत्मा में सचेतन नहीं हैं। अपने आपको मन, शरीर, इंद्रियों से पृथक् करने में समर्थ नहीं हैं। भीतर-बाहर परमेश्वर की उपस्थिति अनुभव नहीं कर पाते। सहायता के लिए प्रार्थना नहीं करते। पथ-प्रदर्शन के लिए पुकार नहीं करते। उनके साथ इनका कोई सचेतन सक्रिय संपर्क नहीं है। सृष्टि में इसके पीछे एक दिव्य सहायता विद्यमान है, जो अकारण ही सहायता करती है, सहायता करना, दया करना उसका स्वभाव है, यह विश्वास करना इनके लिए कठिन है। सीमित व्यक्ति-चेतना से बाहर आत्मा के अनंत आनंद-सिंधु में गोता लगाना असंभव प्रतीत हो रहा है, जो कि स्वाभाविक होना चाहिये था। ये जीवन को अपने कर्मफल का प्रवाह मानते हैं। यही कारण है कि इनके जीवन में भागवत कृपा का हस्तक्षेप कम ही देखने को मिलता है। कम ही अज्ञान से, दुख-कष्ट से बाहर आ पाते हैं।

किन्तु, इस सुहावनी संध्या में, प्रार्थना के इन मधुमय क्षणों में आज तूने मुझे बताया कि मैं यह भली प्रकार घोषित कर दूँ – इस सृष्टि के पीछे सहायक के रूप में एक अदृश्य शक्ति विद्यमान है। वह दयालु है और हमारी ओर से पुकार की प्रतीक्षा कर रही है। जिससे कि वह हमें कष्टों से उबार सके, मुक्त-चेतना में हमारा निवास संभव बना सके। "पुकार अनिवार्य है।"

दिव्य बीज बोयें

बहुत व्यक्ति मिलने आते हैं। उनमें से अधिकतर मानसिक शांति चाहते हैं। कुछ आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी आते हैं। ये साधक-गण एक सुव्यवस्थित साधन-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इनकी चेतना में प्रकाश उतरता है। अंतर्सत्ता उद्‌घाटित होती है। आत्म-उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हैं।

किन्तु, प्रायः जो देखने में आता है, वह है : कुछ समय के पश्चात् ये आंतरिक उन्नति की ओर ध्यान न देकर बाह्य उन्नति की ओर अधिक ध्यान देने लगते हैं। अपने दोषों को न देख कर दूसरों में, संस्था में, उसकी व्यवस्था में देखने लगते हैं। यही कारण है कि कोई विरला ही अपने अंतर्द्वार खोल पाता है। पर्दा हटाने में, सत्ता के सत्य का साक्षात्कार करने में सफल होता है।

जब तक स्वभाव में दोष हैं, दुर्बलताएँ हैं, प्रकृति की गति बहिर्मुखी है, इंद्रियों के विषयों के प्रति आकर्षण है आत्म-दर्शन संभव नहीं। सीमित व्यक्तित्व संबंधी अज्ञान से बाहर आये बिना चेतना के उच्च स्तरों पर आरोहण असंभव है। अहमात्मक चेतना से ऊपर उठकर ही हमें शुभाशुभ का, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध प्राप्त होता है। हमें समझना है कि जब तक हम पूर्णतः सचेतन नहीं, अपने सच्चे व्यक्तित्व में नहीं उठ सकते, मूल सत्ता के बोध से दूर रहते हैं।

सचेतन होने का अर्थ है सुनहरी कुंजी प्राप्त कर लेना, जिसके द्वारा हम अंतर्द्वारों का भेदन करने में समर्थ होते हैं।

"दोष दूर से दीखते हैं। बिना ढूंढ़े मिलते हैं। लेकिन गुणों के विषय में यह बात नहीं है। ऐसा क्यों भन्ते !"

हमारी बातें एक वृद्धा माता भी पास खड़ी– मानों भागवत उपस्थिति हो– सुन रही थी। उसका आना आकस्मिक था। उसने कहा वत्स ! बीज फेंको और वे खेत में उग आते हैं। जिसके साथ व्यवहार करते हो उस व्यक्ति पर अपने गुणों की वर्षा करते जाओ। वे उसके स्वभाव में उत्पन्न हो जायेंगे। वह अशुभ करे, तुम शुभ करो। वह अपकार करे, तुम उपकार करते जाओ। उसे अपनी प्रार्थनाओं में लो। सारी परिस्थिति प्रभु को समर्पित करो। उनकी कृपा का आह्वान् करो। अगर तुम उसके अंदर मंगल-भावना के बीज बोते रहे तो अवश्य एक दिन वह शुभ भावनाओं से युक्त, जन-जन का हितैषी हो जायेगा।

हम बदलते हैं तो संसार बदलता है। एक व्यक्ति का परिवर्तन सारे संसार में परिवर्तन की संभावना उत्पन्न करता है। अपना उच्च आदर्श सम्मुख रखना ही संसार में शुभ गुणों का बीज बोना है, दिव्य जीवन की नींव डालना है। भव-उपवन सुन्दर, सुवासित पुष्पों से भरपूर हो, इस दिशा में यह एक सही प्रयास, दिव्य कर्म होगा। "दिव्यकर्मी भवेम"।

———

सचेतन बनें

परमात्मा एक है अखंड है अविभाज्य है अद्वितीय है। वह परम पिता है हम उसकी संतानें हैं, उसकी रचना हैं। हमारा अस्तित्व उस पर निर्भर करता है। किन्तु कितना आश्चर्य है कि हम अपने पिता को बिना देखे, बिना उनका दर्शन किये जी रहे हैं। जबकि संसार में आकर हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि हम अपने पिता के विषय में सोचें, उनके दर्शन की अभिलाषा हमारे हृदय में उठे, हम उन्हें प्राप्त करें। यदि स्वयं उन्हें प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं तो शास्त्रों की शरण ग्रहण करें। किसी आध्यात्मिक व्यक्ति का, गुरु का पथ-प्रदर्शन खोजें। जीवन को खोज का स्वरूप प्रदान करें। हमारे भीतर परमात्मा से मिलने की प्यास इतनी तीव्र हो कि उनके बिना चैन न पड़े। जीवन जीना दूभर हो जाये। भूख, नींद, विश्राम कचोटने लगें। सुख-भोगों की ओर देखने की इच्छा भी हमारे अंदर न उठे, उन्हें भोगने की बात तो दूर रही।

परम पिता परमात्मा की प्राप्ति सृष्टि में अवतरित आत्मा का सर्वोपरि लक्ष्य है। उसकी अभीप्सा के सिवाय अन्य इच्छा हमारे अन्दर नहीं उठनी चाहिये। अन्य इच्छा का उठना भ्रांति है। श्रेय पथ पर, आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में भटकन है। तन, मन, प्राण जब प्रभु की याद में व्याकुल रहते हैं, सारी सत्ता बेचैनी से घिरी होती है, हृदय वियोग में

डूब जाता है, रोम-रोम में दर्शन की तड़प इतनी तीव्र हो उठती है कि बिना मिलन रहा ही न जाये, जीवन गाड़ी मानो रुक गई, ऐसी स्थिति में अन्य कुछ कैसे रुच सकता है ! खान-पान, राग-रंग, मन बहलाव हमें कैसे लुभा सकते हैं ! सारी सत्ता की गति दीपक की लौ की भांति प्रभु प्रेम में ऊर्ध्वमुखी रहे। मन सांसारिक विषयों में न जाये, सत्ता के किसी भाग में कोई कामना न उठे। मानों बिना पिता के दर्शन के जीवन-श्रोत शुष्क हो गया है, जीवन बनाये रखने का कोई आधार, अन्य सहारा नहीं है। जिस स्थिति में पिता ही जीवन हों, पिता ही प्राण, जब भीतर पिता की उपस्थिति की अनुभूति के बिना, उनके दर्शन के बिना, उनके साथ संबंध स्थापित हुए बिना सब सारहीन, निरर्थक-सा सिलसिला प्रतीत होता है – जिसमें न कोई चाव है न हर्ष, न कोई प्रेरणा है न उल्लास – यह वही स्थिति है जिसमें उठते ही हम अपने आपको परम पिता के समीप पाते हैं। यह वही चेतना-स्तर है जिसमें उनकी कृपा हमें प्राप्त होती है। जो बिना मांगे हमारे लिए वह सब जुटाती है जो आत्म-विकास के लिए सर्वोत्तम होता है।

भगवान केवल प्रेमी ही नहीं, वे कृपालु ही नहीं, वे एक सफल पथ-प्रदर्शक भी हैं। आत्म-अनुसंधान के मार्ग में मानव आत्मा के गुरु भी हैं।

भागवत कृपा

मैंने श्रीमाताजी की एक लाइन पढ़ी – मनुष्य नहीं समझते, सृष्टि में सब भागवत कृपा पर निर्भर कर रहा है। अगर भगवान कृपा को एक क्षण के लिए भी पीछे खींच लें, यहाँ कुछ नहीं रहेगा।

बात समझ में नहीं आयी। कारण, बुद्धि सब कुछ स्वतः प्रादुर्भूत होते देख रही है। यहाँ पदार्थों के पीछे किसी शक्ति पर किसी प्रकार की कोई निर्भरता दिखायी नहीं देती। सब कुछ स्वचालित यंत्र के समान है। वर्षों गहन चिंतन करता रहा। आज देख रहा हूँ – सृष्टि प्रभु की मुस्कान है। एक रहस्यमयी लीला है। जिसे वे अपने अंदर धारण किये हैं। जिसमें वे अपने आप, अपने ढंग से अकेले खेल रहे हैं। यहाँ उनका चैतन्य ही जीवन, शक्ति तथा चेतना की त्रिवेणी है। वह अनंत अमृत-सिंधु अपनी प्रथम निम्नगामी गति में सतत अवतरित हो रहा है। चेतना के विभिन्न स्तरों में अभिव्यक्त होता हुआ निश्चेतन सिंधु का रूप धारण करता है, 'अप्रकेतं सलिलम्।' अपनी दूसरी, ऊर्ध्वमुखी गति में वह पुनः उन सभी चेतना-स्तरों पर आरोहण करते हुए अपने मूल के साथ एकत्व लाभ करता है। जीवन, शक्ति तथा चेतना का यह अवतरण तथा आरोहण ही सृष्टि है। सृष्टि में गति है। कर्म है। विकास है।

संपूर्ण सृष्टि एक व्यवस्थित क्रम है। जिसके पीछे हम एक दिव्य सक्रिय संकल्प देख सकते हैं, जो सहायक के रूप में कार्य करता है और जहाँ जैसी आवश्यकता होती है मोड़ प्रदान करता है, इसमें उत्थान लाता है। सृष्टि इसी की चरितार्थता है। यही सृष्टि-विकास-क्रम को बनाये रखने में कारण है। अगर यह एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय हो जाये यहाँ कुछ नहीं रहेगा। न जीवन, न पदार्थ, न गति। मानसिक चेतना के अतिक्रमण से पहले हम अपने आपको कितना भी बुद्धिमान समझें हमारा ज्ञान केवल एक अनुमान होता है। दृष्टि, आलोक एवं यथार्थता का बोध हमें अतिमानसिक चेतना की प्राप्ति के द्वारा, उसके साथ तादात्म्य में उपलब्ध होता है। जब हृदय नेत्र खुलते हैं, एक-एक कर सभी रहस्य समझ में आ जाते हैं। हम देखते हैं कि सिंह के समान बलिष्ठ शरीर में जीवन यांत्रिकता पर नहीं, भागवत कृपा पर निर्भर करता है। जिसका व्यावहारिक रूप एक दिव्य संकल्प की चरितार्थता होता है।

हम देख रहे हैं शीघ्र ही परमात्मा पृथ्वी को वह दिन दिखाने जा रहे हैं जब मनुष्य की चेतना पूर्ण वेद रूपी सूर्य के प्रकाश के प्रति उद्घाटित होगी। मनुष्य के मानस-आंगन में उसका स्वर्णिम प्रकाश छा जायेगा। धरती पर उसके जीवन को प्रकाशमान तथा आनंदमय करेगा।

शृण्वन्तु

सचेतन व्यक्ति आंतरिक चेतना में निवास करता है। उच्च चेतनाओं की ओर उद्घाटित रहता है। उसके अंदर चैतन्य अवतरित होता है। व्यवहार में दिव्य प्रेम प्रतिबिम्बित होता है। भागवत कारुण्य झरता है। उसके शब्दों का मूल्य बढ़ जाता है। उनमें गंभीरता आ जाती है। आत्मा की दिव्यता झलकती है। वे आत्म-विश्वास से पूर्ण, सारगर्भित एवं सत्य-चेतना की चरितार्थता होते हैं। यह चेतना जानती है कि किस स्थिति में क्या कहना उचित है, क्या प्रयोजनीय है।

आत्मा में सचेतन व्यक्ति संसार में भागवत यंत्र के रूप में एक दिव्य कर्मी होता है। उसकी संपूर्ण सत्ता, इंद्रियाँ तक भी अंतर्सत्य को चरितार्थ करती हैं। आत्म-ज्ञान में सुप्रतिष्ठित, समर्पित जीवन जीनेवाला, निष्कामता का सही अर्थ समझता हुआ, कर्मयोग में प्रवृत्त व्यक्ति, अंदर-बाहर आनंद से परिपूर्ण रहता है। समता में निवास उसके लिए स्वाभाविक होता है। वह सबमें प्रभु दर्शन करता है। "सर्वभूतहितेरताः" यह शास्त्रोक्त व्याहृति उसका जीवन-मंत्र होता है। यही मानव जीवन का सही स्वरूप है। इसके लिए हम सब संकल्पित हों। अगर आज इस स्थिति में उठने में समर्थ नहीं हैं तो पुरुषार्थ करें। हमारे अंदर यह भाव अचल हो कि पृथ्वी पर अवतरित मानव आत्मा के लिए कुछ भी असंभव नहीं।

आत्मनि तिष्ठ

मुझे उस व्यक्ति के भीतर झांकने की प्रेरणा हुई जो मुझे पसंद नहीं था। जिसे सब घृणा करते थे। मैं एकाग्र हुआ। गहराई में उतरा। देखा वह मेरा सखा है। आत्मीय है। हम दोनों एक ही पिता की संतान हैं। हमारा रचयिता एक है। जीवन का, चेतना का, रचना का मूल, उसका उपादान कारण एक है। हम एक ही कर्म के लिए, एक ही लक्ष्य को हृदय में लेकर, अपने अपने ढंग से, मार्गों पर अग्रसर हैं। वह उसकी गोद में था जिसे मैं जन्म-जन्मांतरों से खोज रहा हूँ। जिसके दर्शन की प्यास में मैं कभी सुख से न सो पाया। जिसकी एक झांकी के लिए मैं सर्वस्व की भेंट चढ़ाने को सदा उद्यत रहा।

हे मानव ! वह ईश्वर तेरे हृदय में छिपा है, वहाँ विराजमान है। कितना मूल्यवान है तेरा दर्शन। तू धन्य है। सदा धन्यता का पात्र है। जिसके दर्शन से सृष्टिकर्ता की याद आ जाये, हृदय आनंद-विभोर हो उठे, वह निस्संदेह अपने आपमें एक अद्‌भुत रचना है, होनी ही चाहिये। नास्ति अत्र संशयः।

मेरे आनंद की सीमा न रही। जिसे क्षण भर पहले देख कर मैं उबल रहा था, परेशान था, वही मेरे सुख का, आंतरिक संतुष्टि का आधार था। आगार था। मुझे उस एक अखंड अमृत-सिंधु से युक्त करने में सहायक निकला।

कितना सुख है भ्रांति से बाहर आने में। हम कितने हल्के हो जाते हैं। मानों संसार एक सागर है और हम उसकी सतह पर सर्वत्र फैल गये हों। जो भीतर है, जब वही बाहर भी गोचर होता है तब जीवन का कण-कण, कोना-कोना तीव्रतम आनंद से, माधुर्य से परिपूर्ण हो जाता है। असीम सुख से दिशाएँ भर उठती हैं।

भारत माता ने अपनी संतानों को अनेक प्रकार की वेष-भूषा से अलंकृत किया है। एक ही सत्य को देखने की अनेक दृष्टियाँ प्रदान की हैं। एक ही सत्य की घोषणा उसने अनेक जिह्वाओं से की है। इस सबसे वह अति आनंदित हुई थी, उसके आनंद में वृद्धि हुई थी।

किन्तु, अब वह अपने हर शिशु के मुख से एक ही वाणी सुनना चाहती है। उनके चिन्तन का विषय एक ही देखना चाहती है। वह है : जीवन में आत्मा के सत्य की चरितार्थता। वे एक ही वाणी बोलें जिसका आधार वैदिक ज्ञान हो। उनका लक्ष्य एक हो : आत्मा के एकत्व के प्रति संसार को जगाना, आत्म-प्रेम में सबको बांधना, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सबके सम्मुख रखना।

सहृदयता – एक दिव्य गुण

अगर हम अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं, उनकी तपस्या से अपनी तपस्या को अधिक महान, उनके त्याग से अपने त्याग को अधिक ऊँचा समझते हैं तो यह हमारा अहंकार है। यह तुलनात्मक दृष्टि, ऊँच-नीच का यह भाव हमारे अन्दर चेतना की संकीर्णता को दर्शाता है जिसमें बंद होकर व्यक्ति कठोर हो जाता है। हम त्याग-तपस्या के अभिमान के द्वारा ग्रसित हो जाते हैं। जो आत्म-अज्ञान से आता है। सब प्रकार की सीमाएँ आत्म-अज्ञान की देन होती हैं। आत्म-ज्ञान में न सीमा है, न कठोरता। वहाँ है विशालता, समत्व, सहृदयता, आत्मीयता का भाव।

अहंकार के द्वारा निर्णीत मार्गों पर चलने से हम पार नहीं पाते, भव-सागर में डूबते हैं। अहंकार को आगे रखकर किया गया तप-त्याग हमें मुक्ति प्रदान करने में सफल नहीं होता। इसके विपरीत यह हमारे आत्म-बंधन में कारण है। प्रकृति के साथ और अधिक दृढ़ता से बांधता है। हम अपने बाह्य व्यक्तित्व के परे कुछ नहीं देख पाते। उसकी सीमाओं में जकड़े जाते हैं। अपने आपको दूसरों से पूर्णतया पृथक् देखते हैं और आत्मा की विशाल चेतना में निवास से दूर रहते हैं।

आत्म-कल्याण के पथ में अहंकार का त्याग शास्त्रोक्त प्रथम शर्त है। हमें चाहिये कि विनम्रता, मृदुता तथा मधुरता

को जीवन में प्रथम स्थान प्रदान करें। सरल, शिशु-सम पारदर्शी स्वभाव धारण करें। अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ समझना, अपने मत को, सम्प्रदाय को सर्वोच्च मानना, हमारा धर्म ही परम सत्य के सबसे अधिक समीप है, ऐसी धारणा बना लेना प्रमाणित करता है कि हमारा निवास आध्यात्मिक चेतना में नहीं है। हम उस चैतन्य-शिखर से दूर हैं जहाँ खड़े होकर यह स्पष्ट गोचर होता है कि धर्म मात्र सोपान हैं, गन्तव्य नहीं। साम्प्रदायिकता विश्व-चेतना-सिंधु में भंवर है। अपने आपको श्रेष्ठ समझना आत्म-एकत्व के मार्ग में रोड़ा है, फिसलन है, विकृति है। एक ऐसी ऐंठन है जो आत्म-अग्नि में तप्त हुए बिना अपनी सही स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकती। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आध्यात्मिक स्तर पर उठने के लिए, आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश के लिए हृदय की विशालता, प्राणी मात्र के हृदय में स्थित ईश्वर के प्रति सम्मान तथा समर्पण का भाव ही वह सुनहरी कुंजी है जो जन्म-जन्म के बंद द्वारों को खोलती, हमें चैतन्य से जगमगाते अनंत चेतना-स्तर पर उठाने में समर्थ होती है।

जब तक हमारे हृदय पर पर्दा है हम इस बोध से दूर हैं कि संपूर्ण विश्व एक कर्म है, परमेश्वर की एक रचना है। जिसमें जीवन एक है। चेतना एक है। अस्तित्व एक है। हम सब एक ही पिता की संतान हैं। एक ही माता की गोद में पल रहे हैं। सारी वसुधा एक परिवार है। हम सब परस्पर

बन्धु हैं। एक उपवन के पुष्प हैं। भव-उपवन का माली एक है। जीवन का स्रोत एक है। एक ही चेतन शक्ति हमें गन्तव्य की ओर ले जा रही है। सम्पूर्ण सृष्टि उसके हृदय में है। अगर हमारा हृदय आवरणहीन हो जाये, हम सीमित व्यक्ति-चेतना की परिधि से बाहर आ जायें, चहुँ ओर एक आत्मा को देखने के अभ्यासी हों तो हमारे आनंद की सीमा नहीं रहेगी। उस स्तर पर न कोई ग्रंथि है, न समस्या। न कठोरता है न अड़चन। सब सुन्दर है। सुखद है। मंगलमय है।

जब तक हमारा निवास सामान्य चेतना में है, हम घटनाओं के बाह्य रूप को ही देख पाते हैं। उनके घटित होने के पश्चात् ही उन्हें समझ पाते हैं। मन-सीमा के पार पहुँच कर हम घटनाओं को भविष्य के गर्भ में, पृथ्वी पर घटित होने से पूर्व, देख सकते हैं। हमारे अंदर बाह्य सत्ता के पीछे एक अन्य दृष्टि भी है जो वस्तुओं को भेदकर, उनके अंतर्निहित सत्य को देख सकती है। घटित होने से पहले घटना के स्वरूप को, उसके परिणाम को जान सकती है, उसमें हस्तक्षेप कर सकती है। अपने विकास के अनुसार, सामर्थ्य के अनुसार उसमें परिवर्तन ला सकती है।

चेत भन्ते

रे मन ! विचारवान बन। गहन चिंतन में डूबना सीख। विवेक बुद्धि से काम ले। शीघ्र ही वह दिन आनेवाला है जब अंग शिथिल हो जायेंगे। हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं होंगे। तब चाह कर भी साधन-भजन नहीं कर पायेंगे। कर्तव्य का पालन असंभव हो उठेगा। दृष्टि क्षीण हो जाएगी। स्वाध्याय आदि नहीं होंगे। भीतर गड़ी हुई आंखों से जो दिखायी देगा उससे ही संतुष्ट होना पड़ेगा। वह स्थिति कष्टपूर्ण होगी। हमारे अंदर इच्छाएं उभरेंगी, उमंगें उठेंगी, प्रवृत्ति जागेगी, किन्तु अफसोस ! समय हाथ से निकल चुका होगा, हमारे अंग साथ नहीं देंगे। बहुत अधिक उत्तेजित होंगे तो गिरेंगे, हाथ-पैर टूटेंगे। और उसके कुछ दिन बाद एक दिन वह दिन भी आएगा – वह दिन – जब सब कुछ छूट जाएगा। ये इष्ट मित्र दूर हो जायेंगे। यह संसार, ये आश्रम, ये जगमगाते महल, ये ठाठ, ये स्वजन, सब यहीं रहेंगे, केवल इनके बीच में हम नहीं रहेंगे। जाने की इच्छा न होते हुए भी अकेले जाना पड़ेगा। छोड़ने की इच्छा न होते हुए भी सब छोड़ना पड़ेगा। सब घरों में चिराग रौशन रहेंगे। दुनिया वैसी ही रहेगी। हँसेगी, खेलेगी। सर्वत्र रौनक रहेगी, खुशियाँ रहेंगी। केवल हमारे लिए मेला समाप्त हो जाएगा, घाट सुनसान पड़ा रहेगा, दिये बुझ जायेंगे, सब ओर अंधेरा छा जाएगा, नौका किनारा छोड़ चुकेगी, हम नहीं होंगे।

सच्ची यांत्रिकता

इतिहास के पृष्ठ उलटने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक युग में कुछ व्यक्ति भागवत यंत्र के रूप में पृथ्वी पर कार्य करते हैं। जिनके द्वारा भगवान अपने एक विशिष्ट कार्य को सुसम्पन्न करते हैं। ये प्रभु के चुने हुए, विश्व में दिव्य कर्म के लिए उनके यंत्र होते हैं। मनुष्य अपनी मानसिक चेतना में निवास करता है, जिसका क्षेत्र सीमित है। अतः जैसे ही हमें यह ज्ञात होता है कि अमुक व्यक्ति भगवान का चुना हुआ, संसार में उनका यंत्र है तो हमारे मन में प्रश्न उठ सकता है कि आखिर अमुक व्यक्ति को ही क्यों चुना गया। उससे अधिक योग्यतावाले दूसरे व्यक्ति भी थे। फिर भगवान ने उस व्यक्ति-विशेष को ही क्यों चुना। जिसके द्वारा उनका कार्य कुछ कठिनता के साथ ही सम्पन्न हुआ। दूसरे व्यक्ति की क्षमताएँ, उससे महत्तर थीं और वह उसी कार्य को अति शीघ्रता से, अधिक पूर्णता के साथ करने में सफल हो सकता था।

विचार करने का यह प्रकार मानवीय है। हमारा मन चीजों को, वस्तु स्थिति को बाहर से देखता है। उनके अंदर पैठने की क्षमता, और वहाँ तथ्य को देखने-समझने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। कम से कम अभी नहीं है। हमें यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि शुद्ध यांत्रिकता प्राप्त करने के लिए अपनी समस्त क्षमताएँ एक ओर रख देनी

होती हैं। हम इसे छन्दोमयी, आध्यात्मिक भाषा में इस प्रकार कहेंगे – अपने सर्वस्व को समर्पित करने के साथ-साथ अपनी क्षमताएँ भी जीवन और जगत के स्वामी के पद-कमलों में समर्पित कर देनी चाहियें। वह इसलिए भी – और यह एक अनुभूत सत्य है – जिन्हें हम व्यक्ति की क्षमताएँ समझते हैं, जिनके द्वारा कि वह हमें दूसरे व्यक्तियों में श्रेष्ठतर प्रतीत होता है , वे प्रायः एक शुद्ध, निर्विकार यंत्र बनने में सहायक होने की अपेक्षा बाधक ही होती हैं। कारण, उस स्थिति में हम भागवत कृपा के स्थान पर अपनी क्षमताओं में अधिक विश्वास करते हैं। मनुष्य स्वभाव से अपनी बुद्धि पर विश्वास करता है। वह उसे समर्पित है। इसीलिए वह वस्तुओं का त्याग तथा ग्रहण, स्वयं करता है। और जब तक हम अपने ढंग से चलेंगे, पथ का चुनाव स्वयं करेंगे, निर्णय स्वयं लेंगे, तब तक भागवत विधान को समझना, उसे समर्पित होकर कर्म करना असंभव है।

भगवान पर सब कुछ छोड़ने का अर्थ यह नहीं कि हम अपनी ओर से निष्क्रिय हो जायें, पुरुषार्थ न करें। भगवान पर छोड़ने का अर्थ है अधिक से अधिक सच्चाई के साथ अपना कर्तव्य निभाना। कर्मों का चुनाव, उनका परिणाम उनके हाथों में छोड़ देना। छोटी से छोटी वस्तु के लिए भी अन्तर्प्रेरणा पर निर्भर करना।

समर्पण – एक स्वर्णिम पथ

कुछ व्यक्ति हैं जो नित उठ दर्शन करने मंदिर जाते हैं। कुछ प्रार्थना करते हैं। अन्य कुछ भेंट भी चढ़ाते हैं। अपने ढंग से सब शांति पा रहे हैं, मानों मंदिर जाना एक कर्म था जिसे करने के पश्चात् ये ऐसा अनुभव करते हैं जैसे सर के ऊपर से ऋण का भार उतर गया हो। इनके भावों के अनुसार परमेश्वर इन्हें फल देते हैं। ये सब अपने भावों में कहाँ तक सही हैं हमें कुछ नहीं कहना है। हम केवल इतना ही कहेंगे इनकी यह दौड़ जीवन भर रहती है। इनकी प्यास बुझती नहीं। भूख मिटती नहीं। दूसरे हैं जो इन्हें अज्ञानी समझते हैं और अपने आपको बुद्धिमान। ये प्रतिदिन शास्त्रों का, वेदों का अध्ययन करते हैं। यज्ञादि कर्म करते हैं। ये भी पुरुषार्थ में सच्चाई के अनुसार फल पाते हैं। ये कहाँ तक सही हैं ये जानें। हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं। जो दीख रहा है वह यह है कि सामूहिक रूप में इनके अंदर आत्म-ज्ञान का सूर्य अभी पीछे है। जीवन-मार्ग प्रकाशपूर्ण नहीं हैं। मन के द्वारा चलाये चलते हैं। किसी अतिमानसिक चेतना ने इन्हें अधि कृत नहीं किया। आत्मा की मुक्त चेतना में निवास दूर है। अभी शरीर को अपना आप समझते हैं। मनोमय प्राणमय अन्नमय पुरुषों से अपने आपको पृथक् नहीं किया। अंतस्थ सत्ता से तादात्म्य नहीं हुआ। आत्मज्ञान में नहीं उठे।

मनुष्य को अपनी सत्ता का सत्य प्राप्त करने के लिए कुछ और करना पड़ता है। जो कर रहे हैं उसके पीछे जो भाव है उसे बदलना पड़ता है। तभी उसे परम सत्य प्राप्त होता है। हृदय का पर्दा हटता है। आत्मा की अनंत चेतना में निवास संभव होता है।

आत्म-उपलब्धि के, आत्म-साक्षात्कार के मार्ग अनेक हैं। शास्त्र इनसे भरे हैं। हमारे हृदय, मन तथा इंद्रियों की चेतना की गति जब प्रदीप की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है, इसमें बाधक सभी वस्तुओं को हम त्याग देते हैं और हमारा समर्पण परमेश्वर के प्रति ऐसा हो जाता है मानों हम उनमें समा गये। अपनी कोई इच्छा न रहे। हर वस्तु के लिए उनकी ओर मुड़ें। हृदय-सिंहासन पर उन्हें आसीन कर जीवन का संपूर्ण दायित्व उन्हें सौंप दें। उनके चलाये चलें। मार्ग का, दिशा का चुनाव वे करें। मानों हम उनके हाथों की मुरली बन गये जिसमें वे जो चाहें स्वर निकालें। तब, समर्पण की इस स्थिति में हमारा निवास सत्य में होता है। हम वही नहीं रहते जो अब तक थे। सब परिवर्तित हो जाता है। जीवन, प्रभु का प्रभु के लिए होता है। सत्ता का हर अंग यंत्र की भांति उनके संकल्प से प्रेरित, चालित होता है।

जब तक कर्म का चुनाव हम करते हैं, निर्णय हम लेते हैं, चाहे हमारे कर्म कितने भी श्रेष्ठ हों हमारे अंदर अहंकार रहता है, चाहे उसका स्वरूप कितना भी शुद्ध हो, सूक्ष्म हो। हम पूर्ण रूपेण समर्पित नहीं हैं। हमने जीवन-स्वामी के रूप

में आत्मा को नहीं चुना। जीवन ने उसके संकल्प की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण नहीं किया। हमारा निवास पृथकत्व की चेतना में है। आत्मा का एकत्व जो कि परम सत्य है हमसे दूर है।

कुछ भी कहें सभी साधनों में सार यही है कि जीवन जीवन-स्वामी का है और उन्हीं की इच्छा से, उनके संकल्प के अनुसार यापित होना चाहिये। तब तक हम जो भी करें – वेदाध्ययन करें या मंदिरों में पूजा, मस्जिदों में झुकें या गिरजाघरों में हाजिरी दें – सब तैयारी मात्र है। हम इसी किनारे पर हैं। हमारी नौका किनारा तब छोड़ती है जब हम मन की एकाग्रता के द्वारा हृदय की अनासक्ति के द्वारा, इंद्रिय संयम के द्वारा मन के परे उठना संभव बनाते हैं। किन्तु स्मरण रहे सत्य के उच्चतम शिखर की प्राप्ति, जिसे शास्त्र चरम एकत्व कहते हैं उसके साथ तादात्म्य लाभ होता है पूर्ण समर्पण के द्वारा। बिना समर्पण हम जो भी प्राप्त करें, उसका स्वरूप हमारी दृष्टि में चाहे कितना भी आध्यात्मिक हो, चाहे हमारी प्राप्ति जो भी हो वह आंशिक है। पूर्ण समर्पण के द्वारा अर्थात् सत्ता के सर्वांगीण समर्पण के द्वारा ही हम परमार्थ तत्व को, उस चरम-परम परिपूर्णता को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

हमें महापुरुषों की इस वाणी की ओर ध्यान देना है कि शास्त्र अध्ययन से मार्ग का ज्ञान होता है, गन्तव्य की प्राप्ति नहीं। पूजा-पाठ से जीवन में सुख मिलता है, आत्म-ज्ञान

नहीं। तपस्या से मन ज्योतिर्मय हो सकता है, अपने ऊपर नियंत्रण प्राप्त हो सकता है, किन्तु जीवन का लक्ष्य है परमात्मा की प्राप्ति, आत्मा का साक्षात्कार – जिसका प्रवेश द्वार हमारे हृदय में है। हमें अपने भीतर डुबकी लगानी सीखनी होती है। वहाँ हमें भागवत उपस्थिति की अनुभूति होती है। जो हमें सब समय सब ओर से देख रही है, जिससे हम घिरे हुए हैं। जिसमें यह सम्पूर्ण जगत डूबा हुआ है।

हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि कोई भी उच्चतम उपलब्धि अपने अमिश्रित रूप में आत्म-समर्पण के द्वारा ही संभव होती है। प्रभु को समर्पण के द्वारा हम अपने स्वभाव को आत्मा के दिव्य स्वभाव में परिवर्तित कर सकते हैं। उसके उपरान्त हम बिलकुल दूसरे व्यक्ति हो जाते हैं। आत्मा के चलाये चलते हैं। हमारे अंदर अपनी कोई मांग, कोई इच्छा नहीं रहती। स्वभाव का परिवर्तन आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य स्थिति है। मानव-स्वभाव के स्थान पर आत्मा का दिव्य स्वभाव धारण करना चरम सफलता है। उच्च आध्यात्मिकता का लक्षण है।

नये भावों के प्रवेश से समाज नया रूप धारण करता है। उच्च भावों का उदय होने से समाज का स्तर उच्च होता है। दिव्यता के बीज बोने से समाज दिव्य होता है। हे मानव ! सब निर्भर करता है तेरे चेतना-स्तर पर। इसे ऊँचे से ऊँचा उठा। दिव्यता से ओत-प्रोत कर। तू सुखी होगा। तेरा समाज स्वर्गिक सम्पदाओं से भरपूर हो उठेगा। स्वार्थ को भूल।

सीमित व्यक्ति-चेतना से ऊपर उठ। आत्मा की अनन्त सत्ता में जाग। उसमें अपना निवास संभव बना। तुझे आत्मा की मुक्त चेतना प्राप्त होगी, जिसमें निवास करते हुए कर्तव्य का पालन करना शास्त्रोक्त मानव-जीवन-विधान है।

शास्त्र कहते हैं इस विश्व में जो भी घटित होता है उस सबके पीछे भगवान का हाथ होता है। सब उनके दिव्य संकल्प की अभिव्यक्ति होती है। उस स्वयं सत् एकतम ब्रह्म के द्वारा अपनी ज्योतिर्मय चेतना में, अपने सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान अतिमानसिक ज्ञान में पूर्वदृष्ट होता है। जिस जगत की वह रचना करता है वह उसके संकल्प के अंदर होता है। बीज को सृष्ट करनेवाला जानता है कि इसमें से विकसित वृक्ष का स्वरूप क्या होगा। उसके विकास की अवस्थाएँ क्या होंगी। विकास-प्रक्रिया में किन-किन तत्वों का, शक्तियों का हस्तक्षेप अनिवार्य होगा।

हम मानते हैं यह सत्य है। किन्तु यह एक मनसातीत स्तर का सत्य है। जो अभी हमारी पहुँच के परे है। उस स्तर पर खड़े होकर देखने से हमें सर्वत्र एक ही परम पुरुष का विस्तार गोचर होता है। उसे छोड़कर यहाँ अन्य किसी वस्तु का, प्राणी का अस्तित्व नहीं है।

श्रीअरविन्द आश्रम – एक प्रयोग

भारतवर्ष में, ऋषि-मुनियों की जन्मदात्री इस पावन भूमि पर बहुत प्रकार की साधनाएँ हुई हैं, हो रही हैं, होती रहेंगी। साधना के प्रकार एक नहीं, अनेक होते हैं। हम जो लक्ष्य अपने सम्मुख रखते हैं उसकी संसिद्धि के लिए, उसे संभव बनाने के लिए – जिसके द्वारा हमारा लक्ष्य यथाशीघ्र, सुविधापूर्वक साधित हो सके – उसी प्रकार की अपेक्षित साधन-प्रणाली अपनाते हैं। यदि सुलभ नहीं तो नई प्रणाली का निर्माण करते हैं। उसे स्वयं अपनाते तथा दूसरों को भी अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं।

हम यह भली प्रकार स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि श्रीअरविन्द आश्रम केवल एक आध्यात्मिक संस्था ही नहीं है। आश्रम एक प्रयोगशाला भी है। हम यहाँ एक नये प्रकार का जीवन जीना सीख रहे हैं। वह जीवन आध्यात्मिक तो होगा ही, साथ ही उसमें कुछ नवीन तत्वों का मिश्रण भी होगा। जो हमें, हमारी संपूर्ण सत्ता को, उसके निम्नतम भाग शरीर को भी अतिमानसिक ज्योति में रूपान्तरित करेगा। दूसरी ओर, हमारे जीवन को, उसके हर क्षेत्र को, चाहे वह हमारी दृष्टि में कितना भी नगण्य हो, अतिमानसिक चेतना की सीधी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करेगा। यह अपने आपमें एक भागीरथ कार्य होगा। जिसकी संसिद्धि में शताब्दियाँ लग सकती हैं। इस कार्य की परिपूर्णता, इसकी

सम्पन्नता मानव का अतिमानव में उत्थान होगा। अतिमानव अज्ञान से, मानव-स्वभावजनित सब प्रकार की सीमाओं से, प्राकृतिक शक्तियों की दासता से, उनके प्रभाव से पूर्णतः मुक्त एक दिव्य मानव होगा जो मनुष्यों के बीच में पृथ्वी पर निवास करेगा। अतिमानव जाति मानव जाति में से ही विकसित होगी। किन्तु उसका स्तर भिन्न होगा। उसका स्वरूप, उसका जीवन आत्मा की दिव्यता से ओत-प्रोत होगा। जिस प्रकार मानसिक चेतना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है उसी प्रकार अतिमानव के लिए अतिमानसिक चेतना में निवास स्वाभाविक होगा। अतिमानसिक चेतना भागवत चेतना है। परम चैतन्य की अपनी एक अवस्था है। श्रीअरविन्द के अनुसार अतिमानस भागवत सत्य है और वस्तुओं में उसका आविर्भाव अवश्यंभावी है।

श्रीअरविन्द आत्म-साक्षात्कार को आध्यात्मिक उपलब्धियों में अंतिम नहीं मानते। वास्तव में उनका अतिमानसिक योग, जिसे उन्होंने पूर्ण योग की संज्ञा प्रदान की है आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् प्रारंभ होता है। वे मानव में सुप्त अतिमानवता की संभावनाओं को जगाना, उसमें अतिमानसिक चेतना तथा ज्योति का अवतरण संभव बनाना, और फलस्वरूप उसकी संपूर्ण सत्ता का अतिमानसिक ज्योति में रूपांतर करना लक्ष्य रूप में निर्धारित करते हैं। रूपान्तरित व्यक्ति जिसे हमने अतिमानव कहा है जरा, मृत्यु, व्याधि आदि से मुक्त होगा।

श्रीअरविन्द सृष्टि-विकास-क्रम में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार विकास-क्रम मनुष्य के साथ ही समाप्त नहीं होता। उसके पश्चात् अतिमानव का आगमन सृष्टि-विकास क्रम में एक अवश्यंभावी प्रकरण है। विकास-क्रम के सोपान अनंत हैं। यह सदा आगे बढ़ता रहेगा। अतिमानव के पश्चात् भी आनंदमय पुरुष का प्रादुर्भाव होगा जो अतिमानव का और भी अधिक विकसित रूप होगा। अतिमानव के लिए सीमित व्यक्ति-चेतना का अतिक्रमण एक ओर तथा विश्व-चेतना में सतत निवास दूसरी ओर, स्वाभाविक होगा। अतिमानव मनुष्य से उतना ही श्रेष्ठ होगा जितना मनुष्य पशु से है और संसार में भगवान के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करेगा। उसके साथ ही पृथ्वी के वातावरण में आत्मा की दिव्यता का प्रवाहित होना संभव होगा। फलस्वरूप मानव-जीवन उत्थान लाभ करेगा। उसमें दिव्यता प्रतिबिम्बित होगी।

पार्थिव वातावरण में अतिमानव की उपस्थिति का अर्थ होगा मनुष्य के सम्मुख अनंत दिव्य संभावनाओं का क्षेत्र उद्घाटित होना। दुख-कष्टों का एवं उनके मूल – जिसके कारण वे उत्पन्न होते हैं – अज्ञान, अंधकार का लोप और उसके स्थान पर आत्मा की दिव्यता का प्रवाह। मुक्त चेतना में मनुष्य के निवास की पूर्ण संभावना।

हमें समझना है कि मनुष्य ने अब तक जो भी उपलब्ध किया है वह उपलब्धियों का अंतिम शिखर नहीं है। कोई भी उपलब्धि चाहे वह अपने आपमें कितनी भी महान हो, उच्च हो, दिव्य हो, चरम प्राप्ति नहीं कहला सकती। अनुभव कहता है और साथ ही हमारी आत्मा भी भीतर बल पूर्वक हमें संबोधित कर कह रही है कि उपलब्धियाँ इतनी मात्र नहीं हैं। अन्य भी हो सकती हैं। यहाँ तक कि अब तक की संसिद्ध उपलब्धियों से ऊँची भी हो सकती हैं। हम मानते हैं कि साधना की सभी पद्धतियाँ आधार को शुद्ध करती हैं, उसे तैयार करती हैं। मानव जीवन को, उसकी चेतना को आलोकित करती हैं। उसमें उत्थान लाती हैं। हम निम्न प्रकृति को नियंत्रित करने में समर्थ होते हैं। अपने क्षुद्र अहंकार का त्याग, उससे ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं है। हमारी आत्मा हमसे केवल यही एक मांग नहीं कर रही है। वह इससे भी आगे जाना चाहती है। मानव-जीवन में आत्मा की दिव्यता का सतत प्रवाह, उसके द्वारा जीवन का रूपांतर संभव बनाना चाहती है। इसके लिए वह अचल भाव में संकल्पित है। वह जानती है कि उसके संकल्प के पीछे सृष्टिकर्ता परमात्मा का संकल्प विद्यमान है। उसका संकल्प भागवत संकल्प की चरितार्थता है। और आज नहीं तो कल संसार का रूपांतर अवश्य संभव होगा। मानव का, उसके जीवन का आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण पार्थिव जीवन की यथार्थ घटना होगी

– जो कि अतिमानसिक शक्ति के द्वारा संभव होगा। वह जानती है कि सृष्टि में, इसके पीछे भागवत संकल्प की चरितार्थता इतनी मात्र नहीं है। मानव सृष्टि-विकास-क्रम में अंतिम शिखर नहीं हो सकता। कारण, वर्तमान मानव अपनी चेतना में सीमित है। उसके द्वारा आत्मा की सीधी तथा पूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं हो सकती।

हम देख रहे हैं "हिरण्य गर्भ" में बहुत से ऐसे पदार्थ विद्यमान हैं जिन्हें अवतरित होना है। और जिनके परिणाम स्वरूप यहाँ आंतरिक ही नहीं बाह्य सत्ता का भी आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण संभव होगा। मूल सत्ता की दिव्यता में उत्थान, उसमें दिव्यीकरण ही सृष्टि में अभिव्यक्त पदार्थों एवं प्राणियों की नियति है। अनादि वैकासिकी सत्ता जगत को उसी ओर ले जा रही है। जो मूल में है एक दिन अवश्य यहाँ अभिव्यक्त होगा, होना भी चाहिये।

हमें किसी भी प्रकार से हृदय को आवरणहीन करना है। आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करना है। उसके आलोक से विचार, भाव तथा कर्मों को आलोकित करना है। उसके संकल्प को जानना है। उसे यहाँ चरितार्थ करना है। हमें व्यक्तिगत पुरुषार्थ के साथ भागवत कृपा का भी आह्वान करना चाहिये और उसे समर्पित रहते हुए ही साधन-मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये। हमें समझना है कि जीवन-स्वामी हम नहीं हैं। जीवन-स्वामी भीतर है और अनुभव कहता है सब चुनाव, पथ का अथवा दिशा का चुनाव भी

जीवन-स्वामी के हाथों में छोड़ना मनुष्य की सर्वोच्च बुद्धिमत्ता है। व्यक्ति के पुरुषार्थ की सफलता इसी में है कि वह पूर्ण रूपेण परमेश्वर को समर्पित होकर संसार में जीवन-यापन करे। आत्मा के द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य का यथा संभव पूर्णता के साथ पालन करे।

अंदर-बाहर भागवत उपस्थिति की अनुभूति के बिना जीवन एक धोखा है। हमें अपने अंदर भगवान दीखने चाहियें। वे दीखते हैं। हमें संसार में स्थित हर प्राणी में, हर पदार्थ में भगवान के दर्शन होने चाहियें। यह संभव है। मनुष्य का जीवन में भगवान के साथ संबंध होना एक ऐसी अनिवार्यता है जिसकी पूर्णता के बिना सब सारहीन, रिक्त, अभाव से पूर्ण रहता है। एक बार जब यह संबंध भली प्रकार स्थापित हो जाता है हम सत्य में निवास करते हैं। सत्य के चलाये चलते हैं। हमारा हर विचार, हर कर्म सत्य से प्रेरित होता है। यही मानव-जीवन का शास्त्रोक्त स्वरूप है। इससे भिन्न, इसके विपरीत सब धोखा है। विडम्बना है। एक सारहीन-सा निरर्थक सिलसिला है।

सृष्टि – प्रभु की लीला

संसार में अनेक महापुरुष आये हैं। सभी ने अपने अपने ढंग से मनुष्यों को जगाने का प्रयास किया। उन्हें समझाया। यह सृष्टि प्रभु की आत्म-अभिव्यक्ति है। यहाँ मौलिक रूप में उनके सिवाय अन्य कोई नहीं है। यह उनकी लीला है। संपूर्ण सृष्टि मिलकर एक मंच है, जहाँ वे नाटक खेल रहे हैं। इस नाटक के आदि, मध्य तथा इति वे हैं। सूत्रधार वे हैं, सब पात्र वे हैं। अभिनय की क्रिया वे हैं और स्वयं वे ही दर्शक बन सब देख रहे हैं। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि महापुरुषों की वाणी को मनुष्य जाति अभी तक नहीं समझ पायी और अपने-अपने अभिनय में हर व्यक्ति इतना खो गया है, इतना डूबा है कि भूल ही गया वह मंच पर है और नाटक कर रहा है।

यह सही है कि नाटक के हर पात्र को अपना अभिनय अधिक से अधिक पूर्णता के साथ जागरूक होकर निभाना चाहिये, विस्मृति में नहीं। चेतना को खोकर नहीं। वास्तविकता को भूलकर नहीं। इस अज्ञान में रहते हुए नहीं कि स्वयं को अथवा सामनेवाले को या अन्य पात्रों को केवल पात्र समझे उनकी यथार्थता को बिलकुल ही भूल जाये। हमें समझना है कि नाटक ही सब कुछ नहीं है। यह एक दिव्य सत्ता की अदिव्य अभिव्यक्ति है। पदार्थों के आंतरिक सत्य की बाह्य चरितार्थता है। बाह्य आकार अथवा

ऊपरी आवरण हमारे अस्तित्व की यथार्थता नहीं हैं। केवल मंच पर ही हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारे अस्तित्व के अन्य स्तर भी हैं। जहाँ हम मंच की परिधि में सीमित नहीं हैं। हम दर्शक भी हैं, इस सबके पीछे जो चेतना है, जो इसे धारण किये है, इसे व्यवस्थित कर रही है वह भी हमारी सत्ता है। अपने मूल अस्तित्व में हम वही हैं। एक दिव्य व्यक्तित्व हैं। जो अनंत है, अनादि है, आनंदमय है।

अगर हम विस्मृति में डूबे रहें, उससे बाहर न आयें तो हमारे जीवन का, हमारे कर्म का कोई अर्थ नहीं होता। उसमें हम कुछ भी गहनतम अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते। हमें सचेतन बनना है। पात्र में, उसके पीछे यथार्थ पुरुष को देखना है। नाटक के पीछे सूत्रधार के दर्शन करने हैं। पदार्थ में आत्मा का अवलोकन करना है। परमार्थ तत्व तथा उसकी आत्म-अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि को समझना है, दोनों के रहस्य को जानना है। दोनों स्तरों पर निवास करना है। दोनों चेतनाओं में एक साथ रहना सीखना है। तभी हम परम आत्मा की मुक्त चेतना में निवास करने के अधिकारी, उसके अभ्यस्त हो सकेंगे। यही मानव की, उसके जीवन की सफलता है। इसी के द्वारा मानव आत्मा के पृथ्वी पर अवतरण का औचित्य सिद्ध होता है।

———

स्वात्म की ओर

रे मन चेत ! प्रशंसा के शब्द सुनकर मत फूल। प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास न कर। हमारे हृदय में भगवान का यंत्र होने की अभीप्सा उठनी चाहिये। जब हमारी अभीप्सा अग्नि का रूप धारण कर लेती है, रोम-रोम से इसकी चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। जब सारी सत्ता की गति प्रदीप की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है, हृदय ही नहीं इंद्रियों की चेतना भी विषयों को भूलकर भागवत प्रेम में व्याकुल रहने लगती है, तब हमें संसार में भागवत यंत्र होने की आवश्यक क्षमता प्रदान की जाती है। इसी क्षमता के द्वारा हम संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यह किसी की देन होती है। हमारी अपनी प्राप्ति नहीं। हमें इसके लिए न गर्व करना है न अहंकार। अगर हम हृदय में पैठने के अभ्यासी हैं तो देखेंगे कि हमारी आत्मा प्रभु के सम्मुख एक प्रगाढ़ कृतज्ञता में झुकी है। कारण, वह समझती है कि वह इस प्रतिष्ठा के योग्य नहीं थी जो समाज उसे प्रदान कर रहा है। यह प्रभु की देन है जिसे परम पिता परमात्मा संबोधित कर संसार आनंदित होता है।

अगर नाम के पीछे और पहले शब्दों की एक लंबी-सी पंक्ति देखकर तू भीतर ही भीतर नाच उठता है तो सावधान ! अपने बंद नेत्रों को खोल। अपने चारों ओर विद्यमान इन विश्व-शक्तियों को देख। ये तेरा उपहास करने को, तेरा

तमाशा देखने को उद्यत हैं। कारण, तेरा पतन निश्चित है। जो तू स्वयं नहीं है वह दिखाने की चेष्टा कर रहा है। यह पाखंड है। धूर्तता है। और यह एक निर्विवाद सत्य है कि एक दिन हर पाखंडी तमाशा बनता है। उसकी पोल खुलती है। वास्तविकता सामने आ जाती है।

सीधा, सरल, शिशुवत बन। अंदर-बाहर सच्चा रह। प्रभु के कर-कमलों की मुरली बनना ही तेरे पुरुषार्थ का स्वरूप हो। तभी तेरे ऊपर कृपा बरसेगी। तू भ्रांति से बाहर आयेगा। स्वसत्ता के सत्य में तेरा निवास संभव होगा। अहंकार की काली छाया तेरी मानसिक सत्ता से दूर हट जायेगी। तेरा हृदय आवरणहीन होगा। अंतर्ज्योति से ज्योतित विचार, भाव तथा कर्मों के साथ तू आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होगा।

तेरे लिए यही श्रेयष्कर है, परम-सत्य को आत्मसात् कर। अपने चहुँ ओर प्रेम का विस्तार कर। शत्रुता का भाव तुझे स्पर्श न करे। आंतरिक स्तर पर सजग हो। वहाँ से जगत को देख। तेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। सर्वत्र एक आत्मा को ही पायेगा। जगत उसमें डूबा देखेगा। वह आत्मा जगत का मूल है, सर्वत्र है, सबमें बसा है, तेरा सच्चा स्वरूप है। हर व्यक्ति की आत्मा, हर वस्तु का सत्य इसी का अंश है, इसका अपना निजी स्वरूप है।

मूल स्वभाव

जीवन के रहन-सहन की व्यवस्था अगर कुछ उन्नत हो जाये, कुछ अच्छी, ऐश्वर्यमय, कुछ वैभवशील हो जाये तो हम समझते हैं कि हमने जीवन में उन्नति की है। जीवन के प्रति दृष्टिपात करने का यह पाश्चात्य ढंग है, आधुनिक है। हमारे शास्त्रों के साथ इसकी संगति नहीं है। उनसे यह दूर है। भिन्न है। विपरीत है। तथ्य यह है कि चेतना के परिवर्तन के साथ जीवन परिवर्तित होता है। चेतना में उत्थान के द्वारा जीवन उत्थान लाभ करता है। चेतना यथार्थ वस्तु है। उसकी उन्नति, उसका विकास ही सच्ची उन्नति है।

हमारे अंदर हमारी आत्मा हमारा सच्चा व्यक्तित्व है। उसकी दिव्यता, सत्यता हमारे विचारों में, भावों में, कर्मों में प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। उसका स्वभाव हमारा स्वभाव होना चाहिये।

विकास के प्रारंभिक सोपानों पर हम शारीरिक जीवन को ही जीवन समझते हैं। इंद्रियों के चलाये चलना, उनकी इच्छाओं को पूरा करना, हमारे जीवन का स्वरूप होता है। एक दीर्घ काल के पश्चात्, जन्म-जन्मान्तरों की लंबी श्रेणी में से गुजरने के पश्चात् हमारा जीवन मानसिक वृत्तियों की चरितार्थता का रूप धारण करता है। हमारी चेतना का केन्द्र मनोमय पुरुष होता है। इन्द्रिय-जीवन की तुच्छ कामनाओं में व्यस्त रहना हमें नहीं सुहाता। एक बौद्धिक आधार पर, एक तार्किक धारणा पर हमारा जीवन व्यवस्थित होता है।

साधारण चेतना में निवास करनेवाला व्यक्ति जीवन के अंतिम श्वास तक धनोपार्जन करने का प्रयास करता है। कुछ दूसरे हैं जो भोगों में डूबते चले जाते हैं और कभी उनके त्याग की, उनसे बाहर आने की बात नहीं सोचते। अन्य वे हैं जिनके हृदय में नित्य प्रति नई कामनाएँ उठती रहती हैं और उनकी पूर्ति ही उनका जीवन होता है। इसी में उनकी शक्ति, उनकी चेतना समाप्त हो जाती है। भीतर आत्मा के सुनहरे सपने स्वाहा हो जाते हैं।

हे मानव जाग ! कब तक तू इसी लीक में अपनी जीवन-गाड़ी का पहिया लगाये चलेगा ! बहुत हो चुका। युग बीत गये। अब समय आया है। सचेतन जीवन यापन करने का संकल्प ले। भीतर आत्मा को खोज। उसके पथ-प्रदर्शन में मार्गों पर अग्रसर हो। तेरा जीवन उत्थान लाभ करेगा। तेरी चेतना ज्योतिर्मय होगी। तेरे अंदर विवेक-शक्ति जागृत होगी। जीवन को सार्थक बनाने में तू समर्थ होगा।

परमात्मा को तथा उनकी आत्म-अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि को जानना, समझना चाहता है तो संप्रदायों के, तथाकथित धर्मों के प्रभाव से बाहर आ। इनकी छाप से मुक्त हो। इनके अंदर सीमित रहते, इनके संस्कारों के कारण उत्पन्न धारणा के रहते तू सत्य को अमिश्रित रूप में देखने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

जीवन— एक कर्म

हमें जीवन भर कर्म करना होता है। जहाँ जीवन है वहीं कर्म है। कर्म के द्वारा ही मनुष्य का आत्म-विकास संभव होता है। हमें अनुभव प्राप्त होते हैं। अनुभवों के संग्रह से हमारा विकास साधित होता है। अनुभवों का जितना महान आगार जिसके पास है उतना ही वह विकसित है। गीता के अनुसार हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं। कर्म पर हमारा अधिकार है। कर्म का चुनाव व्यक्ति के ऊपर छोड़ा हुआ है। अतः कर्म एक ऐसी समस्या है, अगर हमने उसका समाधान न खोजा, तो भटकते रहेंगे। वह एक ऐसा रहस्य है, अगर उसके भेद-प्रभेद हमें ज्ञात न हुए तो हमारा जीवन निरर्थक रहेगा। कारण, अगर हमने कर्म के रहस्य को न पाया, कर्म करते समय जिस चेतना में, जिस भाव में रहना चाहिए, जिस स्तर पर उठ कर कर्म करना चाहिए, अगर वह हमें ज्ञात नहीं है तो हमारा संपूर्ण जीवन जिसमें कि हर व्यक्ति, हर क्षण सतत रूप से कर्म में संलग्न रहता है वह सब व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। हमें हर समय कर्म करना है और आयु पर्यन्त करते जाना है, अतः बुद्धिमानी इसी में है कि हम उसके रहस्य को जानें, उसके महत्व को पहचानें, उसके सही स्वरूप से परिचित हों। हमारे कर्म ही जीवन का स्वरूप होते हैं। कर्मों का स्तर ऊँचा होने से जीवन-स्तर में उत्थान स्वाभाविक है। हम इस तथ्य के प्रति सचेतन रहें कि कर्मों

में निष्कामता होने से जीवन आध्यात्मिकता का स्वरूप ग्रहण करता है। उसमें आत्मा की दिव्यता प्रवाहित होती है। भगवद्गीता कर्म संबंधी दर्शन का सर्वोच्च शास्त्र है। उसके अध्ययन से कर्म संबंधी सभी ग्रंथियों का उन्मूलन हो जाता है, जिनकी जड़ें हमारे अहंकार में होती हैं। गीता हमें उत्तम कर्म करने का आदेश प्रदान करती है। उत्तम कर्म वे होते हैं जो हमें हमारी सत्ता के सत्य के समीप पहुँचाने में समर्थ हों। आत्म-सत्य में हमारा निवास संभव बनायें। आत्मा के ऊपर पड़े आवरण से मुक्त करें। अज्ञान तथा अंधकार से आच्छादित चेतना को आलोकित करने में सहायक बनें तथा हमारे आत्म-साक्षात्कार में उपयोगी सिद्ध हों। कारण, जैसे एक ओर, कर्म हमारे मुक्ति लाभ करने में, आत्म-चेतना में उठाने में सहायक होते हैं वैसे ही दूसरी ओर आवागमन के चक्र में बंधे रहने के लिए कारण हो सकते हैं।

जब हमें आंतरिक दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है हम मनुष्य को उसकी समग्र सत्ता के साथ देखते हैं, उसके अंदर भगवान को, दिव्य पुरुष को अनुभव करते हैं। हम मानव मात्र के प्रति विनम्रता से भरे रहते हैं। कुछ भी अनुचित नहीं करते। दूसरों की आत्म-प्रस न्नता में प्रसन्नता, उनके आत्म-उत्थान में सुख अनुभव करते हैं। परमात्मा की इस अद्भुत अनुपम सृष्टि को देख-देख कर हर्ष में डूबे कृतज्ञ रहते हैं।

धर्म एवं आध्यात्मिकता

हमारे अंदर हमारी आत्मा ही सच्चा व्यक्ति है। यही जीवन-स्वामी है। इसके संकल्प की अभिव्यक्ति ही हमारा जीवन, हमारा धर्म, हमारा कर्तव्य होना चाहिए। अंतर्सत्ता के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। उसके होने का भाव और उसकी प्रवृत्ति, इन दोनों का मिश्रण उसके स्वभाव का रूप होता है। सत्ता के स्वभाव की इस अभिव्यक्ति का अर्थ है अंतरतम सत्ता के सत्य की चरितार्थता। जो कि एक है, अद्वितीय है, अखंड है, अविभाज्य है, पूर्ण है। हम सब की तथा जगत की मूलभूत सत्ता है। पृथ्वी पर अवतरित आत्मा इसी की अभिव्यक्ति को, इसके गुण, धर्म तथा स्वभाव की चरितार्थता को जीवन-लक्ष्य के रूप में अपने सम्मुख रखती है। यही मानव धर्म है। जिसे शास्त्रों में सनातन धर्म कहा गया है।

प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों के, ऋषि-मुनियों के जीवन में हम इसकी सीधी अभिव्यक्ति देखते हैं। बीच में यह लुप्तप्रायः हो गया था और अब जबकि अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित हो चुका है, उसके प्रभाव से, दबाव से, अंतर्वेग से इसका अभ्युदय होना सुनिश्चित है। मनुष्य मन-चेतना का अतिक्रमण करेगा। वर्तमान सीमित मानसिक चेतना से ऊपर उठना उसके लिए स्वाभाविक होगा। मानव-स्वभाव परिवर्तित होगा। शीघ्र ही वह सत्य का अनुयायी, उसका पुजारी होगा। अज्ञान-अंधकार की शक्तियाँ

अतिमानस के तेज से तिरोहित हो जायेंगी अथवा अपना रूपांतरण स्वीकार करेंगी। मानव चेतना ज्योतिर्मय होगी, हृदय भागवत प्रेम की ओर उद्घाटित होगा। संसार में सामंजस्यपूर्ण जीवन अतिमानस की विशिष्ट देन होगी।

इसी प्रकार विश्व धर्म विश्व पुरुष के संकल्प की चरितार्थता होता है। युग धर्म परम पुरुष की उस अवस्था की अभिव्यक्ति होता है जिसे काल-पुरुष कहते हैं। काल-पुरुष को विकासोन्मुखी सृष्टि की गति धारा का पूर्ण ज्ञान है। वह जानता है कि सृष्टि-विकास क्रम को कब एक और चरण आगे बढ़ाना है और उस अगले चरण या स्तर का क्या स्वरूप होगा। अर्थात् वह जानता है कि संसार को कब किधर मोड़ना है, किधर प्रेरित करना या ले जाना है। संसार में उत्थान और पतन की सभी घटनाएँ इसी काल-पुरुष के संकल्प की अभिव्यक्ति होती हैं और उनके द्वारा यही पुरुष जगत को इसके लक्ष्य की ओर ले जा रहा है। यह लक्ष्य शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है – यहाँ की हर वस्तु, हर पदार्थ, हर प्राणी एक दिन अवश्य अपने मूल उद्गम के प्रति सचेतन होगा। उससे युक्त होगा। उसकी दिव्यता में रूपांतरित होगा। जो मूल में है यहाँ प्रकट होगा।

वैदिक धर्म का अर्थ है वेद में वर्णित शिक्षा के आधार पर जीवन का स्वरूप, कर्मों का चुनाव, कर्तव्य पालन, स्वभाव का निर्माण, अर्थात् वेद माता के स्वभाव की अभिव्यक्ति, बाह्य एवं आंतरिक जीवन में उसी चेतना की चरितार्थता। विचार और

भावनाओं के पीछे – हर मोड़, हर चुनाव, हर निर्णय के पीछे – उसी की प्रेरणा। जिसका व्यवहारिक रूप होगा संसार में दिव्य प्रेम का प्रकटन, अंतरतम सत्य का प्रस्फुटन, पृथ्वी पर भागवत करुणा का अवतरण।

सनातन धर्म अपने शुद्ध, परिष्कृत रूप में वैदिक था। वैदिक भावना एवं प्रेरणा से ओत-प्रोत था। वही उसे होना तथा रहना चाहिए। जिसके द्वारा सनातन सत्य, अर्थात् सनातन आत्मा, सनातन पुरुष अपने आपको संसार में, मानव जीवन में अभिव्यक्त कर सके।

सनातन सत्य-सूर्य के प्रकाश में अगर हम देखें, संसार में प्रचलित वर्तमान सभी धर्मों का संशोधित होना अनिवार्य है। धार्मिक व्यक्ति को, जिस चेतना में आज वह निवास कर रहा है, जो सीमाएँ उसने अपने चारों ओर, अंदर-बाहर निर्मित की हुई हैं, उनकी परिधि से बाहर आना होगा। एक मुक्त एवं विशाल चेतना स्तर अधिकृत करना होगा। एक नई अतिमानसिक चेतना में उठना होगा। उसी में निवास करना और उसी में जीवन जीने का आधार खोजना होगा। तथाकथित वर्तमान धर्मों की संकीर्ण वीथियों में न भटक कर, एक आत्म-चेतन नभ के नीचे नव-सुवासित पवन में श्वास लेना स्वाभाविक बनाना होगा।

परम अस्तित्व एक है, पूर्ण है, समग्र है। किन्तु उसकी अवस्थाएँ एवं अभिव्यक्तियाँ असंख्य हैं। दूसरे शब्दों में हम ऐसे भी कह सकते हैं, परम चैतन्य एक अखंड तत्त्व है।

किन्तु उसके स्तर अनंत हैं। ऐसे ही परमात्मा एक, अनादि, अजन्मा, अद्वितीय दिव्य पुरुष है। उसका अपना एक सीमाहीन अनंततया अनंत प्रकार का व्यक्तित्व है। यह दिव्य व्यक्तित्व पूर्णतया निर्वैयक्तिक है और हमारे मन बुद्धि की सभी धारणाओं के परे है। इसके विषय में हम किसी प्रकार की कोई कल्पना करने में सर्वथा असमर्थ हैं। मन अपने स्वभाव और सीमित क्षमता के कारण, वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें विभाजित करता है। खंडों में काट कर, एक-एक खंड को लेकर ही, वह वस्तु को परखता है, उसका निरीक्षण करता है, तब उस वस्तु का उसे ज्ञान प्राप्त होता है। पदार्थ को उसकी समग्रता में देखने की दृष्टि उसके पास नहीं है।

यथार्थ ज्ञान तादात्म्य के द्वारा उपलब्ध होता है। सृष्टि में, आत्मा हो या पदार्थ, किसी भी वस्तु, विषय या घटना को सही रूप में जानने का एक मात्र उपाय तादात्म्य के द्वारा ही है। यह क्षमता हमारे मन की सामान्य, स्वाभाविक क्षमताओं में अभी नहीं है। फिर भी हमें सृष्टि विषयक सभी जानकारी के लिए और सृष्टिकर्त्ता की मूल अस्तित्व संबंधी सभी असीम अवस्थाओं के ज्ञान के लिए, अपने इसी सीमित मन पर निर्भर करना पड़ता है। उस अनंत एवं असीम सत्ता की जिस अवस्था के साथ हमारी चेतना का तादात्म्य होता है उसे ही हम जान पाते हैं। लेकिन परम अस्तित्व की असंख्य अवस्थाएँ हैं और हर अवस्था अनंत

एवं असीम है। अतः जब हमारा तादात्म्य किसी एक अवस्था विशेष के साथ होता है हम उस अवस्था की अनंतता में निवास करते हैं और उस अनुभूति में हम उसे ही सब कुछ समझते हैं। वह अवस्था हमें सब भांति परिपूर्ण अनुभव होती है। उससे परे भी कुछ हो सकता है, अथवा उससे भिन्न भी किसी अवस्था विशेष का अस्तित्व संभव है, ये सब प्रश्न वहाँ नहीं उठते।

जब हम तादात्म्य की इस स्थिति से बाहर आते हैं और हमारा संबंध हमारी बाह्य अर्थात् यांत्रिक सत्ता और चेतना से होता है, हमें उस अनुभूति की स्मृति बनी रहती है। हम उस अनुभूति को अपनी मानसिक भाषा में, अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार परिभाषित करते हैं। इस अनुभूति में, क्योंकि यह एक पक्षीय होती है, अतः हमें परम आत्मा की, परम पुरुष की समग्रता का, उनकी अन्य अवस्थाओं का ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। कारण, हमारी चेतना ने उस अनंत सिंधु की, जिसमें असंख्य सिंधु विस्तार को प्राप्त होते हैं – किसी एक अवस्था विशेष के साथ ही एकत्व लाभ किया था।

इस प्रकार हर अन्वेषक अपनी प्रकृति के अनुसार अनंत सत्ता की किसी एक अवस्था विशेष का साक्षात्कार करता है और उसे ही– दृष्टि की अपनी सीमितता के कारण, परम आत्मा का चरम सत्य एवं चरम स्वरूप समझता है। आत्म-अनुभूति की इसी एकपक्षीयता के कारण

नाना पंथ तथा मत-मतांतर सृष्ट हुए। कारण, उस अनंत सत्ता की जिस अवस्था को जिसने जैसा अनुभव किया उसने वैसा कहा। अच्छा होता अगर हमारे अंदर यह विकल्प उठता – "अगर हम उस चरम अस्तित्व के विषय में यह घोषणा करें कि वह यही है, इतना मात्र ही है, तो फिर वह अनंत कहाँ रहा !"

हम ऊपर कह आए हैं कि वह अनंत सत्ता अनंततया अनंत है। उसमें चेतना और अस्तित्व के असंख्य स्तर अस्तित्व पाते हैं। वह किसी प्रकार भी सीमित नहीं है। उसे सीमित नहीं किया जा सकता।

चरम अस्तित्व के विषय में कुछ भी घोषणा करने से पहले हमें सावधान होना चाहिए, हमें ठीक-ठीक विचार पूर्वक देखना चाहिए कि कहीं हम उस अनंत एवं असीम सत्ता को किसी प्रकार भी सीमित तो नहीं कर रहे हैं, कहीं हमारे कथन में इस सीमित भाव की छाया तो नहीं है – "भगवान अपने आपको इस रूप में, इस वस्तु में, इस घटना में ही अभिव्यक्त कर सकते हैं, दूसरी में नहीं। वे इतने मात्र हैं, इससे अधिक नहीं हो सकते। उनके ज्ञान की सीमा यहाँ तक है, यह शास्त्र मात्र है, इससे बाहर कुछ नहीं है। न भगवान के पास इससे अधिक कुछ देने को है और न हमारे पास कहने को होना चाहिये। भगवान एक जाति-विशेष, धर्म-विशेष में ही अवतरित हो सकते हैं, दूसरी जाति अथवा धर्म में नहीं।" ऐसा प्रयास मात्र भागवत

चेतना तथा शक्ति को सीमित करना है। मनुष्य के लिए एक अनधिकार चेष्टा है।

श्रीअरविन्द हमारा ध्यान एक अति गहनतम सत्य की ओर, एक अति प्राचीनतम वैदिक ऋषियों के आत्म-ज्ञान संबंधी समग्र दृष्टिकोण की ओर आकर्षित करते हैं। उनका कहना है कि अगर हम परम चैतन्य में अपना प्रवेश आध्यात्मिक-मानस स्तरों के बजाय अतिमानस स्तर को आधार बनाकर करें, तो हम परम-सत्ता को, उसकी सब अवस्थाओं में, उसकी सब अभिव्यक्तियों में, उसके सब स्तरों पर, एक साथ देखने में समर्थ हो सकते हैं। हम परमार्थ तत्व और जगत को, अर्थात् , परम आत्मा और उसकी अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि को, ऐसे देखते हैं जैसे भगवान स्वयं अपने आप को, अपने द्वारा अनंततया विस्तृत देखते हैं।

अतिमानस के विषय में उनका अपना अनुभव सिद्ध कथन है कि वह एक सत्य-चेतना है। सच्चिदानंद का अपना चेतना-स्तर है। जिसके द्वारा परम सत्य उसकी समग्रता में देखा और अनुभव किया जा सकता है। जिसका व्यावहारिक रूप होता है तादात्म्य।

"अनंत सत्ता को उसकी सीमाहीन अनंत दृष्टि से ही हम देख सकते हैं।" – श्रीमाताजी

परम सत्य असीम है। उसे सीमित न करें। सत्य सीमित होते ही अपनी मौलिकता खो देता है।

स्वर्णिम क्षण

उसकी कृपा मेरे ऊपर बरसी। अंतश्चक्षु खुले। मेरे देखते-देखते माली उपवन बन गया। अनंत उपवन के रूप में अभिव्यक्त होने के पश्चात् भी वह पूर्ववत, जो कि स्वयं अपनी सत्ता में अनंत था, माली बना रहा।

उसने कृपा की। उपवन के आभ्यंतर और बाह्य दोनों स्तर मैंने गौर से निहारे। हर पुष्प की आंतरिक स्थिति उसकी बाह्य प्रकृति से सर्वथा भिन्न थी। भीतर ज्योतिर्मयता थी, विशालता थी। बाहर सीमाएँ थीं, संकीर्णता थी, अंधकार था। भीतर दिव्यता थी। बाहर सत्ता अहंकार से शासित थी। भीतर समर्पण का भाव था। बाहर स्वार्थ-भाव छाया था। पुष्पों को परस्पर चूमते, प्रेम करते, आलिंगन में बांधते और कभी-कभी एक दूसरे पर घूरते देखा। उन्हें लड़ते-झगड़ते, मार-काट करते भी देखा। किन्तु, मेरे आश्चर्य ने सीमा तब लांघी जब मैंने देखा, कुछ पुष्प मिलकर अन्य पुष्पों को समूल नष्ट करने की योजना बना रहे थे। तभी अकस्मात् माली उनके सम्मुख प्रकट हुआ। उन्हें एक मोहिनी मुस्कान में बांधा। उसके नेत्रों में चुम्बकीय आकर्षण था। फलस्वरूप वे सब पारस्परिक द्वेष-भाव को भूल कर – मानों अपने सीमित व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर चुके हों – उस तेजोमय दिव्य माली की गोद में स्नेह भरी मुस्कानों के साथ अपनी-अपनी भुजा फैलाए एक-दूसरे को आलिंगन में बांधते खेलने लगे।

हृदय नेत्र उघारें

हे मानव ! हृदय के नेत्र खोल। वस्तुओं को देखने की तुझे सच्ची दृष्टि प्राप्त होगी। तू मन-सीमा का अतिक्रमण करेगा और उस ज्ञान पर तेरा अधिकार होगा जो सर्वज्ञ है। जो चेतना-शक्ति कण-कण में विराजमान है वह उसमें बंद नहीं है। वरन्, हर कण को, हर पदार्थ को धारण कर रही है। वह पदार्थों में से प्रकट हो सकती है। होती देखी गयी है। चमत्कार घटित होते हैं। होते देखे गये हैं। फिर उस चेतना-शक्ति के लिए मू र्त्ति में से प्रकट होना हम असंभव क्यों मानें। उस सर्वशक्तिमान के लिए, सर्व संभावनाओं के सिंधु के लिए सब संभव है। उसके लिए सीमाएँ खड़ी करना, यह कहना कि वह यह कर सकता है, वह नहीं, उसकी क्षमता को, सर्वशक्तिमत्ता को सीमित करना है।

अगर एक रामकृष्ण को मू र्त्ति-पूजा करके भागवंत कृपा प्राप्त हो सकती है, उसकी सहायता से हृदय का पर्दा हट सकता है तो मुझे क्या अधिकार है यह कहने का कि मूर्त्ति-पूजा एक व्यर्थ की वस्तु है, ढोंग है, अनुचित कर्म है, भटकानेवाला मार्ग है। अगर एक नरसी पर कीर्त्तन के द्वारा भगवान प्रसन्न हो सकते हैं, उसकी संतुष्टि के लिए अपना एक दिव्य चतुर्भुजी रूप ग्रहण कर उसके सम्मुख प्रकट हो सकते हैं तो उसे अरण्य में अथवा गुफाओं में जाकर किसी विरक्त संन्यासी से दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है ?

हृदय आवरणहीन करनेवाला भागवत कृपा से अधिक सशक्त और कौन हो सकता है ! देव चरित्र से युक्त, देवोपम पुरुष-श्रेष्ठ शिवाजी के हाथ में माता भवानी का स्वयं अपने कर-कमलों से अपना खड्ग भेंट करना भागवत कृपा ही है। असंभव को संभव बनानेवाली भागवत कृपा में विश्वास पर ही मानव आत्मा, शाश्वत यात्री भव-सागर में अपनी जीवन-नौका लिये बढ़ रहा है और सफलतापूर्वक पूरी करने का सुखद स्वप्न देख रहा है। जो भक्त नहीं, जिसके हृदय में भक्ति नहीं, जिसने भक्ति-रस को नहीं चखा, उसे क्या अधिकार है भक्ति-मार्ग के विषय में कुछ कहने का। शिशु की व्यथा समझने के लिए, उसे अनुभव करने के लिए एक माता का हृदय होना अनिवार्य है, अन्यथा अगर हम विचार के द्वारा, बुद्धि के द्वारा उसे समझने की कोशिश करेंगे तो भटक जायेंगे। हम अपने ही अहंकार के द्वारा छले जायेंगे। मनुष्य अपने ही अहंकार के द्वारा छले जाते हैं। उनका अर्ध-ज्ञान अर्थात् अनुभवहीन ज्ञान ही उनके आत्म-उन्नति के मार्ग में बाधक होता है। जिन्होंने भक्ति-मार्ग को सबसे सुलभ, सबसे ऊँचा माना है वे साधारण मनुष्य नहीं थे। निमाई पंडित के अंदर भक्ति की तीव्रता में, तीव्र आवेश में भागवत तेज को सीधा उतरते देखा गया है जो कि एक महान घटना है। पुरुष स्वभाव से मन-प्रधान है। उसकी सत्ता में हृदय पीछे और मनोमय पुरुष सम्मुख रहता है। ज्ञानयोग, वेदान्त, सांख्य आदि मार्ग उसकी प्रकृति के

अनुरूप प्रतीत होते हैं। इनमें समर्पण के भाव का समावेश किये बिना भी सिद्धि प्राप्त होती है। यही कारण है कि पुरुषों में ज्ञानमार्ग की ओर स्वाभाविक झुकाव रहता है। वे विरले ही होते हैं जो चैत्य पुरुष को आगे रख कर साधन-मार्ग पर अग्रसर होते हैं। चैत्य पुरुष, मानव आत्मा स्वभाव से भक्त है, प्रेमी है। ज्ञान असीम है। चैतन्य के असंख्य स्तर हैं। हमें चाहिये कि अपनी सीमित बुद्धि से उन्हें नापने का प्रयास न करें। वरन्, अपने आपको अधिकाधिक उद्घाटित करें, विनम्र बनें। अगर आध्यात्मिक सिंधु में समर्पण एक नौका है और सच्चाई पतवार है तो विनम्रता पाल का स्थान अवश्य ग्रहण करेगी।

इनके चित्त एकाग्र नहीं। मन-हृदय शुद्ध नहीं। इन्होंने चिन्तन में वर्ष नहीं गुजारे। अहंकार और क्रोध को नहीं जीता। समता में निवास संभव नहीं बनाया। विचारों में क्षुद्र-व्यक्तित्व की चेतना-परिधि का अतिक्रमण नहीं किया। फिर भी ये शास्त्रों पर प्रवचन करने के आवेश से भरे दिखायी देते हैं। खोजते हैं कोई इन्हें सुने। आकर इनसे तर्क करे, शास्त्रार्थ करे। इन्हें अपने उधारे ज्ञान पर पूरा भरोसा है। रामकृष्ण की भाषा में ये आधे भरे घट हैं जो छलकते हैं। हे प्रभो ! अति विनीत भाव में मैं तेरे चरणों पर हूँ। इन पर कृपा कर।

पश्चाताप की ज्वाला

सामान्य स्तर से ऊपर का व्यक्ति, चाहे वह एक नेता हो या बड़ा व्यापारी, जब स्वार्थ सिद्धि के लिए, बचाव के लिए या अपना मान रखने के लिए झूठ का सहारा लेता है, तब वह इसे असत्य भाषण न समझकर, अपनी व्यवहार कुशलता समझता है। चालाकी को बुद्धिमत्ता समझता है। जबकि अपने अंर्तमन में वह जानता है उसका आचरण मिथ्या है, वह झूठ बोल रहा है, चालाकी, छल-कपट कर रहा है। फिर भी वह जान-बूझकर अपने साथ छल करता है। अपने स्वार्थ को कैसे भी सिद्ध करता है। अपने आपको बचाता है। वह इस मिथ्याचरण का आश्रय इसलिए लेता है कि वह अपनी आत्मा को मुंह नहीं दिखा सकता। उसके सम्मुख उपस्थित नहीं हो सकता। अगर वह चालाकी न करके, स्पष्ट सोचे कि उसका आचरण मिथ्या है। जो उसने किया है वह घृणित है। निंदित है। एक पापकर्म है। तो वह आत्मग्लानि की अग्नि में जलने लगेगा। जो असह्य होता है। अगर मनुष्य में आत्मा न होती तो वह असुर होता। चाहे जो कुकर्म करता। अन्याय, अधर्म में गोता लगाने से न हिचकिचाता। यह तो उसकी आत्मा ही है जो उसे पछताने के लिए बाध्य करती है। भीतर से व्यथित करती है। सुख-चैन, शांति छीन लेती है, एक भयंकर आत्म-ग्लानि में डुबा देती है। संताप की तीव्र लपटें उसके हृदय को अग्निकुंड का रूप

प्रदान कर देती हैं। जब-जब उसकी आत्मा उसे झकझोरती है, जगाने का प्रयास करती है वह कराहता है। आंतरिक जलन पापी व्यक्ति का कर्मफल, उसके दुष्कर्मों का परिणाम होता है। एक प्रकार की घुटन में, अंधकार से भरा, निराशा से पूर्ण हृदय लिए वह जीवन के शेष भाग को पूरा करता है। उसकी सब चालें उसके ऊपर लौट-लौट कर आती हैं। जैसे दीवार पर फेंकी गेंद। उसकी क्रूरता, निर्दयता, अन्याय उसके ऊपर प्रहार बनकर पड़ते हैं। उसके हृदय को, प्राणों को दबोचते हैं। जिसकी घुटन में वह छटपटाते, हत्-हृदय हुआ अंतिम क्षण की प्रतीक्षा में घड़ियाँ गिनता रहता है। एक अदृश्य शूल आकर उसके प्राण ले लेता है।

मनुष्य नहीं जानते पापी व्यक्ति के कर्मों का फल आंतरिक जलन का रूप धारण कर लेता है। वह भीतर ही भीतर जलता है। उसका जीवन-पथ अंधकार से और अधिक गहरे अंधकार में खुलता जाता है।

जो हृदय सांसारिक वस्तुओं के मोह से भरपूर है, जिसके एक कोने को क्रोध ने अधिकृत किया हुआ है, जिसमें स्वार्थ-भाव का पवन बहता है, जिसका प्रवेश-द्वार लोभ के अधिकार में है, उस हृदय में सत्य चेतना को कैसे उतार सकते हैं ! कारण, यह शास्त्रोक्त वचन है जिस हृदय में लोभ है, कामनाएँ हैं, ईर्षा-द्वेष है वह भागवत चैतन्य धारण नहीं कर सकता।

आत्म-निरीक्षण

स्वयं अपने दोष देखना मनुष्य के लिए कठिन है। कारण, इस समय वह बाह्य चेतना में निवास कर रहा है जो दृष्टिहीन है, सीमित है, अज्ञानमय है। मनुष्य के स्वभाव में दोष उभरते हैं। शिक्षा, स्वाध्याय एवं सत्संग के द्वारा हम उन्हें गुणों में परिवर्तित करते हैं। इस प्रकार आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होना मानव-जीवन है, जीवन का प्रयोजन है। कम ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जो सचेतन हैं, और ये वे होते हैं जिनके बहुत से जन्म हो चुके, जिनके अनुभवों का भंडार पर्याप्त भर चुका है। ये अपने यंत्रों को – मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुषों को उनकी प्रकृति सहित सचेतनता के स्तर पर उठाते हैं। उन्हें आत्म-सत्य तथा चेतना के प्रति उद्घाटित करते हैं। सचेतन व्यक्ति ही पूर्ण आत्म-निरीक्षण करने में समर्थ होता है। वह अपने दोष, स्वाभाविक त्रुटियाँ, विचारों तथा भावों की संकीर्णता समझने में, उन्हें अपनी प्रकृति से दूर करने में सक्षम होता है। कुछ भी हो, जब तक हमें वह व्यक्ति बुरा लगता है, जिसे हमारे स्वभाव में दोष दिखायी देते हैं, जब तक प्रतिष्ठा पाने की आकांक्षा हमारे अंदर है और अपमान के घूँट हमें कड़वे लगते हैं, जिन्हें पीते ही हम उद्विग्न हो उठते हैं, मानसिक संतुलन खो बैठते हैं, तब तक हमारा निवास अहंकार में है, और हम आत्मा की मुक्त चेतना से अति दूर हैं।

दोष हों तो स्वीकार करना उचित होता है। किन्तु अगर न भी हों और फिर भी हमें बदनाम किया जाता हो तो भी इसमें झुंझलाने की, परेशान होने की बात नहीं है। उस व्यक्ति-विशेष के पीछे विश्व-प्रकृति की शक्तियों को देखना चाहिये। उनमें भागवत उपस्थिति को अनुभव करना चाहिये। घटना को परमेश्वर के चरणों में समर्पित करना चाहिये। हमें चाहिये कि सुखदायी ही नहीं दुखदायी घटनाएँ भी प्रसन्न मुद्रा में ग्रहण करने में समर्थ हों। उनके पीछे, उनके अस्तित्व में आने का कारण खोजने के अभ्यासी बनें। यह शास्त्रोक्त अनुभवसिद्ध कथन है कि अगर हम आत्म-चेतना की उच्चतम ऊँचाइयों से घटनाओं को देखें तो उनके पीछे हमें प्रभु-हस्त अनुभव होगा। चाहे वे घटनाएँ हमें दुखदायी ही प्रतीत होती हों। सुख-दुख की प्रतीति मानसिक स्तर का विषय है। हमें कर्तव्य-पालन में सुख-दुख की गणना नहीं करनी चाहिये।

जब तक हमारे अंदर यह अटूट विश्वास न हो जाये कि विश्व में घटित होनेवाली हर घटना के पीछे परमेश्वर का हाथ होता है, उनकी अपने ढंग से अनुमति होती है – चाहे उसका स्वरूप जो भी हो – जब तक वस्तुओं को हम सम-भाव में स्वीकार करने के अभ्यासी न हो जायें, उन्हें परमेश्वर को समर्पित करते जाना न सीख लें, तब तक हमारे चारों ओर की परिस्थिति – जिसमें हम निवास कर रहे हैं ठीक वही नहीं होती जैसी हम चाहते हैं, अर्थात्

जिसमें निवास करते हुए हम आत्म-विकास के पथ पर निर्बाध गति से अग्रसर हो सकें।

जब अंतर्सत्ता तथा बाह्य सत्ता के बीच पर्दा हट जाता है और आन्तरिक ज्योति हमारी सत्ता के भागों को प्रकाशित करती है, आत्म-चेतना हमारे विचारों में प्रतिबिम्बित होती है, तभी हम आत्मा के आनंद से परिप्लावित, आत्म-आलोक से आलोकित पथ पर अग्रसर होते हैं और दूसरों को भी इसमें सहायता पहुँचाने में समर्थ होते हैं।

अपनी मूल सत्ता में हम आत्मा हैं। मुक्ति, चिरमुक्त अवस्था हमारा स्वभाव है। अखंड आनंद हमारा स्वरूप। इस जगत में, प्रभु की इस लीला में अपना कर्तव्य निभाने के लिए, जगत रूप में भगवान की सेवा करने के लिए आत्मा यहाँ अवतरित होती है। प्रभु सेवा का यह कार्य और अधिक अच्छे ढंग से और अधिक पूर्णता के साथ कर सके, इसलिए अपने विकास को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनती है। विकसित आत्मा, जिसने अपने यंत्रों को भी अपने समान सचेतन किया है, विश्व-चेतना में उनका उत्थान स्थायी बनाया है, पृथ्वी पर भगवन्निर्दिष्ट कर्म में, जो कि अदिव्य को दिव्यता में रूपान्तरित करना है, प्रभु का सुयोग्य यंत्र बन सकती है।

भिन्न दृष्टिकोण

परमात्मा मानव मात्र के हृदय में एक सहायक के रूप में, पथ-प्रदार्शक के रूप में विराजमान हैं। उसे आत्म-विकास के पथ पर ले जा रहे हैं।

हममें से कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो किसी व्यक्ति-विशेष में परा चेतना के सीधे अवतरण को, अवतार कहकर पुकारने में हिचकिचाते हैं। ये ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को महापुरुष कहते हैं। ठीक है, कहें। हमें इनसे कोई शिकायत नहीं। दृष्टिकोण अपनाने में हर व्यक्ति स्वतंत्र है। शब्दों से खेलने की, शब्द-जाल में फंसने-फंसाने की मानव बुद्धि की पुरानी आदत है। किन्तु, जिस ओर मैं इन व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह तथ्य यह है – क्या हमने कभी सोचा है, यह हिचकिचाहट, व्यक्ति-विशेष को अवतार मानने में यह अड़चन, हमारी सत्ता के किस भाग में है। क्यों हमें यह कहने में कठिनाई अनुभव होती है कि हो सकता है शायद ईश्वर के लिए यह संभव हो। शायद वह अवतार ले सकता हो।

जिस दिन मनुष्य जाति सामूहिक रूप में आत्म अनुभूति के स्तर पर स्थायी रूप में विचरण करने लगेगी, उस दिन उसकी यह हिचकिचाहट दूर हो जायेगी। केवल हमारे मनोमय तथा प्राणमय पुरुष ही नहीं एक दिन हमारी शारीरिक चेतना में भी उद्घाटन आयेगा। अन्तस्थ आत्मा

की दृष्टि से शरीर भी देखेगा। उस दिन हम अवतार के रहस्य को समझ पायेंगे और अवतारवाद को स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव नहीं करेंगे। वास्तव में अवतारवाद कोई बौद्धिक सिद्धान्त, मानसिक रचना अथवा आस्था पर आधारित परिकल्पना नहीं है। यह अनुभूति का विषय है। आत्मा और उसके अवतरण अथवा अभिव्यक्ति के विषय में कुछ भी निर्णयात्मक दावा करने के अधिकार के लिए हम तब तक अयोग्य रहते हैं जब तक आत्म-उपलब्धि संभव न हो। उससे पहले वस्तुओं को अथवा घटनाओं को देखने तथा जानने के लिए हमारे पास केवल मानसिक दृष्टि होती है। और किसी भी आध्यात्मिक अथवा सूक्ष्म स्तरीय वस्तु का सही अवलोकन करने की सामर्थ्य मानसिक दृष्टि में नहीं है। वह उसकी क्षमता से परे का क्षेत्र है। इतना ही नहीं, तब हम यह भी देखेंगे कि यहाँ शून्य गगन में निराधार घूमती हुई इस धरा पर सभी कुछ अवतरित है। स्वयं पृथ्वी का भी किसी अन्य अदृश्य लोक से अवतरण हुआ है। हम उस दिन की परिकल्पना कर सकते हैं जब पृथ्वी यहाँ नहीं थी। हम सब अवतरित हैं। सृष्टि परम पुरुष की आत्म-अभिव्यक्ति है। जो पदार्थ हम देख रहे हैं सबमें परमात्मा की सत्ता का, जो कि एक अखंड, अविभाज्य अस्तित्व है, बिना विभाजित हुए पृथक् रूप में विभाजित-सा एक अंश स्थित है। जिसे हम अनुभव कर सकते हैं और उन सबने अनुभव किया जिन्होंने अंतरात्मा,

जीवात्मा, विश्वात्मा, तथा परम आत्मा का साक्षात्कार किया है। उसे एक अखंड, अद्वितीय सत्ता के रूप में अनुभव किया तथा साथ ही उसकी अभिव्यक्त अवस्थाओं का बोध भी प्राप्त किया।

पृथ्वी की, पंचभूतों की भी अपनी आत्म सत्ता है और जो स्थूल रूप हम देख रहे हैं यह उसी की अभिव्यक्ति है। हम अवतारवाद को नकारें या स्वीकृत करें, इससे कुछ आता-जाता नहीं। इसकी पहुँच समाज तक ही है। उससे परे नहीं। विश्व-सिंधु में ऐसी असंख्य लहरें हर क्षण उठती और गिरती हैं। जब तक हम मानसिक चेतना का अतिक्रमण नहीं करते, हम अज्ञान में हैं, हमारे अंदर ज्योति आच्छादित है। हमारा निवास अंधकार में हैं। हमें चाहिये कि वाद-विवाद में न पड़कर अपनी स्थिति संभालें, आत्म-प्रकाश में, आत्मा की मुक्त चेतना में अपना निवास संभव बनायें। अगर हम ऐसा कर सकें, यह सृष्टि-विकास में, आत्म-दिव्यता प्राप्ति रूप उसकी लक्ष्य-सिद्धि में एक सहायता होगी। एक सुनिश्चित चरण होगा। भगवान अपने संकल्प के द्वारा सृष्टि-विकास में क्रियाशील हैं। सूक्ष्म रूप से इसमें सहायक हैं। पथ-प्रदर्शक हैं। वे चाहें तो एक आकार ग्रहण करके बाहर से भी सहायता कर सकते हैं। किसी क्रिया में उन्हें किसी की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं। किसकी स्वीकृति लें ! कोई दूसरा हो तो लेने का प्रश्न भी उठे ! यहाँ तो उनके सिवाय

अन्य किसी प्राणी का, पदार्थ का, तत्व का, शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। सृष्टि में केवल एक परमार्थ तत्व ही महान है। शेष सब सामान्य घटना है। अवतारवाद को लें या मूर्ति पूजा को ये सृष्टि-विकास-क्रम में जहाँ असंख्य घटनाएँ हैं उनमें से कुछ हैं।

यहाँ कुछ नहीं था। सब कहीं और से आया है। इतना समझने के पश्चात् अवतरण अथवा अवतार शब्द हमारे लिए एक अति गूढ़, मस्तिष्क पर दबाव डालनेवाला न रहेगा। इस अद्भुत सृष्टि में असंख्य चमत्कारिक सूक्ष्म तथा स्थूल तत्वों के मिश्रण के साथ, यह भी एक सामान्य घटना होगी। जिसे हम प्रायः ही घटित होते देखेंगे। अगर हम अवतारवाद के मानने में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं तो अतिमानस के अवतरण में और अतिमानव के आगमन में हमें कैसे विश्वास होगा !

प्रतीत होता है मानव स्वभाव की इस कठिनाई को द्रष्टा कवि-हृदय पहले ही अनुभव कर चुका है। तभी तो कहता है ".....God moves forward while the wise men chat and sleep."

जब तक व्यक्तिगत सीमित चेतना की ग्रंथि न खुली, आत्म-विकास एक सुनिश्चित स्तर पर न पहुँचा, वस्तुओं के आंतरिक सत्य को देखने की दृष्टि प्राप्त न हुई, मैं मूर्ति पूजा के पीछे किसी सत्य को न देख सका और न अवतारवाद को समझ सका। जैसे ही भीतर आत्मा का

सान्निध्य प्राप्त होना प्रारंभ हुआ, सृष्टि में स्थित प्रमुख तत्वों के, इसे व्यवस्थित करनेवाली शक्तियों के रहस्य मेरे सम्मुख खुलने लगे। अब मूर्ति केवल पाषाण नहीं। फोटो कागज नहीं। सृष्टि में पदार्थ मात्र जीवन्त है, चेतन है। उनमें से कोई झांकता है। बोलता है।

चाहे हम कितना भी शास्त्र-अध्ययन करें, परोपकार आदि उत्तम कर्म करें, याग-यज्ञादि भी नित्यप्रति करते रहें, हम केवल बाह्य साधनों के द्वारा आध्यात्मिक चेतना में नहीं उठ सकते। अंदर-बाहर भागवत उपस्थिति की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। शरीर तथा मन से अपने आपको पृथक् नहीं कर सकते। अपने सच्चे स्वरूप को देखने के अभ्यासी नहीं बन सकते। आत्म-साक्षात्कार हमसे दूर रहेगा, विश्व-चेतना में प्रवेश असंभव।

यह तो तभी संभव है जब हम अंतर्मुखता का भाव अपनाते हैं। वस्तुओं के आंतरिक सत्य के साथ व्यवहार करते हैं। सृष्टिकर्ता परमात्मा को पूर्ण समर्पित रहते हैं। जीवन, कर्म, विचार को उन्हीं के संकल्प की चरितार्थता का स्वरूप प्रदान करते हैं। हृदय की पवित्रता, इंद्रिय संयम, आत्मा के प्रति उद्घाटन, अहंकार के स्थान पर आत्मा का प्रतिष्ठापन तथा सारी सत्ता का दीपक की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी होना, वे कर्म हैं जिनके द्वारा यह महान कार्य संभव होता है।

मृत्यु के उपरान्त

यह शरीर छूटते ही हमारे अस्तित्व का स्तर परिवर्तित हो जाता है। जैसे ही पंचतत्वों से निर्मित इस मूर्ति से हमारा सूक्ष्म शरीर पृथक् होता है, इसे त्यागकर इससे बाहर आ जाता है, हम एक दूसरे, भिन्न प्रकार के स्तर पर निवास करने लगते हैं। भ्रम के बादल छंट जाते हैं। भौतिक जगत का ठोस, घना, दिवा-रैन के प्रकाश तथा अंधकार से मिश्रित वातावरण पीछे छूट जाता है। अपने अस्तित्व के, व्यक्तित्व के विषय में हमारा प्रथम अज्ञान दूर हो जाता है। शरीर रूपी यह भौतिक आवरण, जिसे हम अपना आप समझने की भूल करते हैं, हमारे ऊपर से खिसक कर अलग गिर जाता है। अपनी सत्ता के सत्य की ओर जो कि हमारे अंदर, हमारी बाह्य सत्ता के पीछे स्थित है, उसके समीप पहुँचने में यह हमारा प्रथम चरण है। हमने पहला द्वार पार किया है।

मृत्यु के उपरांत चैत्य लोक की ओर, जिसे कुछ मनीषी अंतरिक्ष भी कहते हैं, जहाँ आत्माएं पुनर्जन्म के लिए प्रतीक्षा करती हैं, यात्रा में – जिसे जीव की यात्रा कहा जाता है – हमारा दूसरा चरण, हमारे अन्नमय पुरुष का आवरण है। यह हमारे शरीर के बिल्कुल समीप, उससे मिलता-जुलता, उसका आधार होता है। हमारा शरीर इसी के द्वारा धारण किया जाता है। इसकी अवधि अत्यंत अल्प होती है, चेतना धूमिल, दृष्टि तमसिल, वृत्तियाँ गंदी-घृणित,

आदतें-अभ्यास पाशविक। यह कुछ दिन इधर-उधर भटककर, बादलों की भांति छिन्न-भिन्न हो जाता है। वास्तव में इसके नष्ट होने के साथ हमारा भौतिक अथवा पार्थिव व्यक्तित्व नष्ट होता है, केवल शरीर के नष्ट होने से नहीं। हिन्दू धर्म में तेरहवीं आदि की प्रथा इसी व्यक्तित्व की विदाई के उपलक्ष में प्रचलित है। इसकी अवधि मुश्किल से कुछ महीनों की होती है। तत्पश्चात् यह नष्ट हो जाता है। जिन्हें एकाग्रता का थोड़ा भी अभ्यास है, वे इस सूक्ष्म शरीर को, जिसे सूक्ष्म भौतिक शरीर कहा जाता है, मृत व्यक्ति के समीप उपस्थित, उसके पास खड़ा हुआ देख सकते हैं।

मृत्यु के उपरांत अपनी यात्रा में हमारा चैत्य पुरुष अपने द्वितीय चरण में जिस भाग का त्याग करता है वह हमारी सत्ता में प्राणमय पुरुष अथवा प्राणमय कोष कहलाता है। इसका अपना मन, अपना प्राण तथा अपने ढंग का शरीर होता है। मृत्यु के पश्चात् इसके अस्तित्व की अवधि अनिश्चित होती है। वह प्रायः प्राणिक ऊर्जा की ग्रहणशीलता पर, बलशाली इच्छाओं पर, आवेगों पर निर्भर करता है। इसके अस्तित्व की आधार रूपी ये शक्तियाँ क्षय होते ही वह नष्ट हो जाता है। साधारणतया प्राणमय पुरुष कुछ महीने रहता है। किसी-किसी का कुछ वर्ष भी रह जाता है।

इन दोनों अन्नमय और प्राणमय पुरुषों के परे, इनसे अधिक सूक्ष्म, अधिक उज्ज्वल तथा प्रकाशमान, हमारी सत्ता

का तीसरा भाग मनोमय पुरुष है। इसके भी उपरोक्त दोनों पुरुषों की भांति अपने मन, प्राण, शरीर होते हैं। जिस व्यक्ति ने अपने स्वभाव में शांति, स्थिरता, धैर्य, पवित्रता, संयम आदि गुणों को जितना अधिक स्थापित किया है, जितना अधिक आत्मा का प्रकाश वह अपने मन में उतार सका, उतना ही अधिक उसका मनोमय पुरुष मनोमय जगत अथवा लोक में निवास करता है। इसी मनोमय पुरुष के हृदय में हमारी आत्मा निवास करती है और मृत्यु के उपरांत अपने यंत्रों से छुटकारा पाने में, मनोमय पुरुष ही उसका अंतिम चरण होता है।

हमारे इन तीन पुरुषों के, अपने जो तीन-तीन भाग हैं अर्थात् प्रत्येक का अपना मन, प्राण और शरीर है, ये तीनों अपने-अपने स्तर पर पृथक् रूप से क्रिया करने में समर्थ हो सकते हैं। अगर हम गुह्य विद्या का, उसके सब पक्षों सहित अध्ययन करें तथा साथ ही उसके व्यावहारिक पक्ष का भी अभ्यास करें तो हम नौ स्थानों पर एक साथ, एक समय में पृथक्-पृथक् व्यक्तित्वों में क्रिया करने में समर्थ हो जाते हैं।

हमारी बाह्य सत्ता के इन भागों के पीछे, इन्हें नियंत्रित करने वाला हमारा सच्चा व्यक्तित्व है जो कि दिव्य है। इसे ही श्रीअरविन्द ने चैत्य पुरुष कहा है। यही विकासोन्मुखी मानव आत्मा है, जो हमारे हृदय की गहराई में स्थित है। हमारी सत्ता के कई भाग हैं। हमारा व्यक्तित्व भी कई व्यक्तित्वों से निर्मित है। इन सब को लेकर मानव आत्मा

अर्थात् हमारा चैत्य पुरुष अपने विकास पथ पर बढ़ रहा है। मृत्यु से अमरता की ओर यात्रा कर रहा है। जिसका व्यावहारिक रूप है, जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति। अपने मूल स्वरूप में, अपनी मूल सत्ता में हम अर्थात् हमारा चैत्य-पुरुष, अजर है, अमर है, सनातन है। लेकिन यहाँ सृष्टि में हम मानव प्राणी हैं और आवागमन के चक्र में संयोजित हैं।

यह सृष्टि प्रभु की लीला है, मानो वे खेल रहे हैं। इस खेल में भाग लेने के लिए हमारी आत्माएं, उन्हीं से प्रेरित होकर अवतरित होती हैं। उन्होंने ही दूसरी ओर विश्व प्रकृति की शक्तियों की, अज्ञान की शक्तियों की रचना की है, जो हमें भ्रांत करती हैं। शायद यह सब उन्होंने इस लीला को, इस खेल को और अधिक आनंदमय बनाने के लिए किया है। जब हम अपनी आत्मा में जाग जाते हैं, विश्व शक्तियों की क्रिया के प्रति सचेतन हो जाते हैं, तब सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। सृष्टि में ऐसा कुछ नहीं रहता जिससे हमें जुगुप्सा हो। जो हमें न रुचता हो। आत्मा की दिव्य दृष्टि हमारे अंदर खुलती है, उसका समग्र ज्ञान हमें प्रदान किया जाता है जो संपूर्ण सृष्टि को प्रभु का एक कर्म, उनके चैतन्य की एक क्रिया, उनके आनंद का एक प्रवाह देखता है। हम सर्वत्र, सब रूपों में केवल सच्चिदानंद प्रभु को देखते हैं। सब उनकी आत्म-अभिव्यक्ति, उनका स्वरूप, वे ही दृष्टिगोचर होते हैं।

अगर हम अपनी अस्तित्व संबंधी समस्या का सही, स्थायी समाधान प्राप्त करना – आवागमन के चक्र से मुक्ति पाना – चाहते हैं तो हमें सबसे पहले अपने तथा जगत के मूल अस्तित्व के विषय में पूर्ण सचेतन होना चाहिए। जिसमें आत्म-साक्षात्कार प्रथम चरण है।

– २ –

साधारणतया जिसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है वह कई पुरुषों का संघटन होता है। हमारा चैत्य पुरुष, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुष सभी हमारे लिए सूक्ष्म हैं। हम इन्हें भौतिक दृष्टि से नहीं देख पाते। शरीर से प्राण बाहर निकलते ही हमारा सूक्ष्म शरीर अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय पुरुष को धारण किये बाहर आ जाता है, अर्थात् मृत शरीर से पृथक् होकर, उसके समीप खड़ा हो जाता है। इनमें सबसे पहले हमारी भेंट अन्नमय पुरुष से होती है। हमें यह जानने में देर नहीं लगती कि मृत व्यक्ति साधक था या संसारी। साधक था तो कहाँ तक उसने आसक्ति आदि दोषों को जय किया था, कितना अपने स्वभाव में समता का निवास संभव बनाया था। जीवित रहते जिस व्यक्ति ने मोह तथा आसक्ति को नहीं जीता वह इस दृश्य को, असहाय पड़े अपने मृत शरीर को सहन नहीं कर पाता। जीवन में जितना अधिक कोई व्यक्ति मोह-माया में डूबा होता है, मृत्यु के उपरांत उतना ही अधिक यंत्रणा भोगता है। वह अपनी आँखों से अपनी वस्तुओं पर दूसरे व्यक्तियों को

अधिकार करते, उन्हें उपयोग में लाते देखता है। अगर इनमें कोई व्यक्ति ऐसा हो, जिसे वह जीवन-भर घृणा करता रहा, जो उसे पसंद नहीं था, किन्तु अब संबंधी या नातेदार होने के कारण वस्तुओं पर, संपत्ति पर अपना अधिकार कर रहा है, इच्छानुसार व्यय कर रहा है, तो मृत व्यक्ति अपने इस सूक्ष्म शरीर में और भी अधिक कष्ट पाता है।

इस स्थिति में एक योगी, एक सिद्ध पुरुष, गुह्य वेत्ता अगर चाहे, मृत व्यक्ति की सहायता कर सकता है।

जैसे रात्रि की निस्तब्धता में मामूली-सा शब्द भी सुनाई पड़ता है। हे प्रभो ! हृदय की गहराई में जहाँ नीरवता का ही राज्य है, उसके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, तेरी शांत सुमधुर, सुखद, मंगलमयी वाणी सुनी जाती है। यह आंतरिक नीरवता सघन है। संसार की समस्त विक्षुब्धता का सामना करने में समर्थ है। इसका माधुर्य, इसका आकर्षण इतना तीव्र है कि मेरी चेतना अवसर प्राप्त होते ही वहाँ एकाग्र हो जाती है।

हम कहना चाहेंगे कि आंतरिक वातावरण के प्रति सजग होना आत्म-विकास के पथ पर सच्ची सफलता है। उसे किसी भी मूल्य पर बनाये रखने का प्रयास सर्वोच्च बुद्धिमत्ता है। उसके लिए प्रार्थना करना, तप, त्याग, संयम का जीवन जीना कर्मों में क़ुशलता है।

तपस्वी

वृक्ष के नीचे बैठा एक तपस्वी आंतरिक संघर्ष में रत, स्वयं को संबोधित कर कह रहा है – "रे मन ! तू झूठा है और यह शरीर भी झूठा है। तेरे विचार मेरे नहीं हैं और न इस शरीर की इच्छाएँ मेरी हैं। मैं कुछ और हूँ। वह अनुभव मैंने प्राप्त किया है। मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूंगा, तुम्हें सहयोग प्रदान नहीं करूँगा। मैं जानता हूँ, अब तक जिसे मैं अपना असली स्वरूप समझता रहा उससे पृथक् होकर, उसकी मांगों की, इच्छाओं की आहुति प्रदान करने पर ही मैं अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सकूँगा।"

तपस्वी की चेतना में विभाजन है। विभाजन अज्ञान का प्रतीक होता है। जब तक विभाजन है, हमारा निवास आत्म-अज्ञान में है। आत्मा के समग्र ज्ञान में, उसकी समग्र दृष्टि में कहीं कोई विभाजन नहीं। सब उसका अपना स्वरूप है। परमार्थ तत्व तथा उसकी अभिव्यक्ति, आत्मा तथा उसके संकल्प का प्रकटीकरण-रूप यह जगत, दोनों अवस्थाओं में वही एक अखंड, अद्वितीय परम पुरुष, वही चरम अस्तित्व विराजमान है।

वस्तुओं में मिथ्यात्व का आभास तभी तक संभव है जब तक हम उनके पूर्ण स्वरूप को नहीं देख पाते, बाह्य आकार के साथ, उसके आधार, उसके अंदर स्थित निराकार तत्व के दर्शन नहीं कर पाते। समग्र दृष्टि में वस्तुओं का

रूप परिवर्तित हो जाता है। उनके अंदर, उनके स्वभाव की विशेषता का कारण हमारी समझ में आ जाता है, हमें कुछ भी अवांछनीय, घृणित अथवा कुत्सित गोचर नहीं होता।

यह संसार मिथ्या, मायामय अथवा माया की रचना हमें तभी तक प्रतीत होता है जब तक हम आकारों को भेद कर निराकार पर नहीं पहुँचते। जब तक अपने मन-बुद्धि के परे जाकर, मानसिक अथवा बौद्धिक ज्ञान तथा दृष्टि को लांघ कर, अपने क्षुद्र अज्ञानमय व्यक्तित्व की सीमित परिधि को अतिक्रमण कर, अनंत आत्मा को तथा जगत-रूप उसकी इस अभिव्यक्ति को, जो कि उसने अपने अंदर धारण की है, आत्मा की दृष्टि से नहीं देखते। आत्मा के समग्र ज्ञान में, उसकी समग्र दृष्टि में यहाँ सब आत्मा, उसका सत्य दृष्टिगोचर होता है। वही है, वही था और वही रहेगा, यह निश्चयता हमें अधिकृत कर लेती है। तब हम जो भी घोषणा करते हैं वह हमारे प्राचीनतम श्रुति-शास्त्रों के अनुरूप होती है। कुछ भी उनसे बाहर, उनके विपरीत नहीं होता। सब कुछ शब्दशः आंतरिक तथा बाह्य स्पंदनों के साथ, उनकी आंतरिक तथा बाह्य चेतना के संग समस्वर होता है।

जितना हमारा समर्पण पूर्ण तथा सर्वांगीण होता है, जितना हमारा त्याग आंतरिक सत्ता के निर्देशन पर निर्भर करता है, जितनी हमारी अभीप्सा तीव्र तथा गहन होती है, उतने ही हम आत्म-सत्य को धारण करने में समर्थ होते हैं,

उसकी ज्योति से हमारा जीवन तथा व्यक्तित्व ज्योतित हो जाता है, उसके चैतन्य से हमारी चेतना, हमारा स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। चेतना के इस परिवर्तन के साथ ही हमारी सत्ता में स्थायी उद्घाटन की संभावना उत्पन्न हो जाती है। हमारी सारी सत्ता, हमारा रोम-रोम सत्य के प्रति अभिमुख रहता है, वही हमारे जीवन का जीवन, चेतना की चेतना का रूप ग्रहण करता है।

जब तक शरीर सहित सारी सत्ता का आत्मा की ज्योति में रूपांतरण, उसकी दिव्यता में दिव्यीकरण संभव नहीं हो जाता, जीवन में मृत्यु एक ध्रुव-सत्य बनी रहती है। एक दिन हमें न चाहते हुए भी, यह जगत त्यागना होता है। ऐसी स्थिति में हमारे शास्त्र हमें एक सुंदर, श्रेयष्कर सलाह प्रदान करते गोचर होते हैं। "समय-समय पर आत्म-निरीक्षण करते रहो कि जीवन-धारा किस दिशा में गति कर रही है। अपने आपसे पूछते रहो कि क्या मैं मृत्यु के लिए तैयार हूँ ? अगर अभी मृत्यु आ जाये तो क्या मैं निश्चिंत होकर इस देह का त्याग कर सकूँगा ! क्या मैं वह सब सम्पन्न कर चुका जिसके लिए पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया था, आत्मा अवतरित हुई थी ? क्या मैंने ईश्वर को पाया, आत्म-दर्शन किया, अपनी सत्ता के सत्य में स्थिति प्राप्त की, शरीर-रूपी इस थैले से पृथक्करण संभव बनाया ! क्या मैं जीवन के बाह्य काज-कर्म करते हुए आंतरिक चेतना में निवास करने में समर्थ हूँ ! क्या मेरा हृदय-मंदिर शुद्ध है, उसमें प्रभु की जीवंत प्रतिमा स्थापित की, आवरण हटाया,
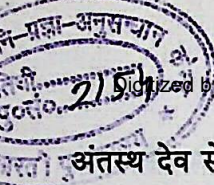
अंतस्थ देव से नाता जोड़ा, उनके आदेश-पालन को एक मात्र कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया, जीवन को उसकी चरितार्थता का स्वरूप प्रदान किया ! अगर ऐसा नहीं है तो क्यों धोखे में पड़ा हुआ है ! किस लिए ये सब उधेड़बुन, ये असंख्य इच्छाएँ, दसों दिशाओं में यह दौड़-धूप, किस लिए यह तृष्णा, क्यों वैर भाव, ये बदले की भावना, किस लिए यह सब भार ढो रहा है, मिले समय को इच्छाओं की पूर्ति में नष्ट कर रहा है ! जो इच्छाएँ तेरी नहीं अहंकार की हैं, मन की हैं, इंद्रियों की हैं क्यों इन्हें अपनी मान रहा है, किस लिए यह इंद्रियों की दासता, यह अहंकार का शासन ! बंद कर ये सब व्यापार। त्याग कर दे इन सब कभी तृप्त न होने वाली इच्छाओं का, इन निम्नगामी वृत्तियों का, जो अज्ञान के, अंधकार के शासन में ही पनपती हैं और हमें हर जन्म में नीचे की ओर खींचती, नाना मनोरथों के जाल बुनती, निरर्थक वस्तुओं में फँसाये रखती हैं।"

मैं आर्य हूँ किन्तु कुछ नवीनता के साथ, जो कि प्राचीनतम श्रुतियों का सार है। आत्म-धर्म मेरा धर्म है। आत्म-आदेश-पालन मेरा सम्पूर्ण कर्म। मैं कर्म-काण्ड से दूर प्रभु-चरणों में बैठता हूँ। आदेश के लिए प्रतीक्षारत रहता हूँ। प्रभु-आदेश-पालन ही मेरा कर्तव्य है। आश्रम के प्रारंभिक वर्षों में हृदय के अंदर श्रीकृष्ण ने कहा – "इस जन्म में तेरे लिए धर्म-कर्म का स्वरूप मैं निर्धारित करूंगा। शास्त्रों में मत खोजना।"

धर्म का मूल स्वरूप – पत्र

मैं तुम्हें यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम अपने धर्म का त्याग करो और दूसरा धर्म अपनाओ। यह मैं कभी नहीं कहूँगा। यह तुम्हारे अंदर तुम्हारी आत्मा भी नहीं चाहेगी। क्योंकि यह समाधान नहीं है। ऐसा करने पर भी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी। मैं तुम्हें परम्परागत रूढ़ियों से, रीति-रिवाजों पर आधारित धार्मिकता से, ऊपर उठने की, उनसे बाहर आने की बात कह रहा हूँ।

एक संप्रदाय के विरोध में जब दूसरा सम्प्रदाय खड़ा किया जाता है, उसका उद्देश्य ही होता है कुछ भिन्न सिद्धान्त एकत्रित करना। चाहे वे सिद्धान्त मूल शास्त्रों के विपरीत ही हों – चाहे हमारा आचरण आंतरिक सत्य के प्रतिकूल जाता हो – फिर भी हम समाज को एक नई दिशा में मोड़ने का, तथाकथित मानव-निर्मित धर्मों को नया रूप प्रदान करने का प्रयास करते हैं। और पहले के स्थान पर दूसरे धर्म का, सम्प्रदाय का निर्माण करते हैं। अगर हम थोड़ा भी भीतर झांकें, घटना से, वस्तु-स्थिति से किंचित पीछे हटकर देखें, तो स्पष्टतः समझ जायेंगे कि यह हमारा अहंकार है जो इसमें संतुष्टि अनुभव करता है। इस सबके पीछे हमारी आत्मा का संकल्प नहीं है। यह कर्म उसकी स्वाभाविक जग-मंगल भावना से युक्त नहीं है। यह सब अज्ञान पर आधारित है। मिथ्या है। अंधकारपूर्ण है। इसमें

व्यक्ति का अहंकार संतुष्टि प्राप्त करता स्पष्ट गोचर हो रहा है। यह मानव-कल्याण को दृष्टिकोण में रखकर नहीं किया गया। भागवत संकल्प की चरितार्थता नहीं है। पदार्थों के अंतर्निहित सत्य की न इसमें अभिव्यक्ति है, न उनके विकास में सहायक कोई तत्व। ये धर्म नहीं कहलाते, इनमें शास्त्रों की शिक्षा प्रवाहित नहीं है। ये जगत को देखने की ऋषि-मुनियों की दिव्य दृष्टि पर आधारित नहीं। आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति नहीं। ये सच्ची धार्मिकता की गंध से रहित हैं। यह सब केवल अज्ञान की शक्तियों के द्वारा चालित एक सिलसिला है, जो व्यर्थ है, खोखला है, समाज के लिए क्षतिकर है।

मैं इसी मानव-कृत धार्मिकता की सब सीमाओं से बाहर आने की, व्यक्ति-चेतना की परिधि से ऊपर उठने की बात कह रहा हूँ और यही वह है जो तुम्हारी आत्मा चाहती है। जिसकी माँग, जिसकी प्रतीक्षा वह युगों से करती आ रही है। यह अंतिम समाधान है। इसके द्वारा मानव आत्मा विकास के उच्च स्तरों पर, चैतन्य के उच्चतम शिखरों पर आरोहण करने में सफल होती है। इसके साथ ही, मनुष्य की व्यक्तिगत तथा समाजगत सभी समस्याओं का अन्त होना संभव होता है। हमारी समस्या किसी एक व्यक्ति को अज्ञान से बाहर लाना नहीं है। हमारी समस्या कोई एक देश विशेष अथवा जाति विशेष भी नहीं है। हमारी समस्या का क्षेत्र समस्त संसार है। संपूर्ण मानव जाति है। हम मानव

मात्र को मुक्ति के द्वार पर खड़ा करना चाहते हैं। आत्मा की मुक्त चेतना में उसका उत्थान, उसका प्रवेश संभव बनाना चाहते हैं। उसे उसकी मूल सत्ता का बोध कराना, उसमें स्थित करना चाहते हैं। उसमें स्थित रहते हुए संसार में अपना कर्तव्य-पालन करना उसके लिए स्वाभाविक बनाना चाहते हैं।

प्रचलित धर्मों में एक धर्म और जोड़ देना, संप्रदायों में एक और नया संप्रदाय निर्मित करना उस शिक्षा के अंतर्गत नहीं है जिसका हम पालन करते हैं। एक नया धर्म, एक नया संप्रदाय – चाहे वह अपने उ द्देश्यों में कितना भी उच्च, दिव्य तथा आदर्शमय हो, अतिमानसिक चेतना की अभिव्यक्ति नहीं होगा। एक नये धर्म का निर्माण कर अतिमानसिक चेतना संतुष्ट नहीं होगी। अतिमानसिक चेतना हमें एक ऐसे ज्योतिर्मय स्तर पर उठाना चाहती है जहाँ हमारी चेतना सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त हो। जिस स्तर विशेष पर सर्वोच्च चेतना निर्बाध गति से हमारे जीवन में, विचार, भाव तथा कर्मों में प्रवाहित हो सके।

वह सभी प्रचलित धर्मों का, जातियों का, सम्प्रदायों का आलिंगन करना, उन्हें अपने अंदर धारण कर उनमें आवश्यक परिवर्तन लाना चाहती है। उन्हें परम सत्य की ओर उद्घाटित करना चाहती है। दिव्य चैतन्य को धारण करने की पात्रता उनके अंदर उत्पन्न करना चाहती है। उन्हें सब सीमाओं से मुक्त कर असीम आत्मीयता के भाव में उत्थित देखना चाहती है। अतिमानस परम चैतन्य का

सक्रिय चेतना-स्तर है। जगत को आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित करना उसकी सहज स्वाभाविक क्षमता है।

इतिहास के पन्ने पलटने से यह स्पष्ट गोचर होता है कि यह कार्य संसार में हुआ है। किन्तु केवल व्यक्तिगत स्तर पर। सामूहिक रूप में नहीं। हर युग में कुछ ही विरले व्यक्ति इसे संसिद्ध करने में समर्थ हुए। यही कारण है कि मनुष्य की धर्म तथा जाति संबंधी समस्याएँ अब तक बनी हुई हैं। इससे पहले कि मानव धर्म संबंधी अपनी समस्या का स्थायी समाधान प्राप्त करने में सफल हो, उसे अपनी मानसिक चेतना की परिधि से बाहर आना होगा। आत्म-विकास वैश्विक स्तर पर संभव बनाना होगा। अभी तक हम सामूहिक रूप में विश्व पुरुष की चेतना-स्तर पर नहीं उठे। उसमें आरोहण संभव नहीं बनाया। हम व्यक्ति थे, व्यक्ति रहे। व्यक्तिरूप में अपने आपको देखा, जो कि हमारी सत्ता का आंशिक सत्य है। विश्व-चेतना में प्रवेश संभव न हो सका। वह द्वार हमारी पहुँच के परे ही रहा। हम विश्व-मानव नहीं बन सके।

इस जाति के उत्थान की चिन्ता अनेक मनीषियों के द्वारा की गई है। परन्तु इसका चेतना-स्तर विश्व-चेतना-स्तर पर उठाने में असमर्थ रहे। हमने व्यक्तिगत स्तर पर मोक्ष प्राप्त किया। दिव्य संसिद्धि लाभ की। सामूहिक स्तर पर मानव को स्वर्ग का साम्राज्य प्रदान करने में सफल नहीं हुए। उसका कारण चाहे जो भी रहा हो, मनुष्य का

सामूहिक चेतना-स्तर ज्योतिर्मय न हो सका। युगों पुरानी उसकी समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। आज भी बनी है। हमें सामूहिक रूप में उठना होगा। व्यक्तिगत मुक्ति नहीं जातिगत मुक्ति लाभ करना, संपूर्ण मानवता को आत्मा की मुक्त चेतना में उठाना लक्ष्य रूप में निर्धारित करना होगा। भीतर हमारी आत्मा हमसे यही मांग कर रही। यही युग-धर्म है। वर्तमान जातीय, सांप्रदायिक तथा धार्मिक समस्या का यही समाधान है। संसार के वातावरण को सामंजस्यपूर्ण बनाने का, मानव मात्र के हृदय में मैत्रीपूर्ण भावों को जगाने का यही उपाय है।

हमने कहा है पार्थिव वातावरण में अतिमानस का अवतरण संभव हो चुका है। अब अतिमानसिक चेतना की सहायता से मनुष्य मानसिक चेतना का अतिक्रमण करने में सफल हो सकेगा। अतिमानस को धारण करने के पश्चात् मनुष्य अपनी वर्तमान अज्ञानजनित, सीमित व्यक्तिगत चेतना से ऊपर उठ जाता है। उसकी संपूर्ण सत्ता की चेतना, शारीरिक चेतना भी विश्वमयी हो जाती है। कल वह अतिमानस में अवश्य उठेगा। यह सृष्टि-विकास-क्रम का अवश्यंभावी प्रकरण है। उसकी शक्ति, ज्योति तथा चेतना की सहायता से अपने अंधकारपूर्ण जीवन को ज्योतिर्मय बना सकेगा। दिव्यता से ओत-प्रोत जीवन में रूपांतरित कर सकेगा। इस प्रकार रूपांतरित जीवन अतिमानसिक चेतना की सीधी अभिव्यक्ति होगा।

मूर्ति पूजा – एक दृष्टिकोण (पत्र)

अगर मूर्ति पूजा मेरी समस्या है, अगर मूर्ति पूजा मुझे सहन नहीं है तो इसका अर्थ है कि मैंने आत्म-विकास का सर्वोच्च स्तर प्राप्त नहीं किया। सर्वोच्च स्तर पर केवल एक ही तत्व का, एक ही चेतना का, एक ही पुरुष का, एक ही आत्मा का अस्तित्व है। संपूर्ण सृष्टि एक है। प्राणी मात्र का, पदार्थ मात्र का मूल एक है। संसार उसी एक दिव्य मूल की आत्म-अभिव्यक्ति है। हम सब एक हैं। वही मैं हूँ, वही तू है, सारा संसार उसी के द्वारा ग्रहण किया हुआ रूप है।

हमें चाहिये कि मूर्ति पूजा को एक गंभीर समस्या के रूप में न देखें। इन चीजों में अपना समय नष्ट न करें। आत्म-अनुसंधान में समय लगायें। हृदय पर जो आवरण पड़ा है उसे हटाने का प्रयास करें। प्रथम स्वयं प्रकाश में खड़ा होना है तभी हम दूसरों को प्रकाश-पथ दर्शा सकते हैं। जब तक हृदय पर पर्दा है हम स्वयं अंधकार में भटक रहे हैं, तब तक दूसरों का पथ-प्रदर्शन करने की कोशिश न करें। यह अनधिकार चेष्टा है। अगर दूसरे ज्ञानहीन हैं तो हम दृष्टिहीन कहलायेंगे। कारण, जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान में स्थित है उसके लिए सर्वत्र कण-कण में ब्रह्म का निवास है। सब ब्रह्म रूप है। मूर्ति हो या पुजारी या पूजा की सामग्री सब आत्मा के एकत्व से ओत-प्रोत हैं। वही सब का आधार है। निर्माता है। सब उसका रूप है। तात्त्विक दृष्टि से सब वही है।

सृष्टि में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, मानव नहीं, कर्म नहीं जिसका मूल परमात्मा में नहीं है। जो अपने मूल में दिव्य नहीं है। अदिव्यता विकृति है। अभिव्यक्ति में आती है। हर विकृति एक मुखौटा है। जो सृष्टि रूप लीला के लिए, नाटक के लिए अनिवार्य था।

मूर्ति पूजा के विषय में यहाँ भी एक स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किया जाता है। विचारों में हम सब स्वतंत्र हैं।

१ – समय आता है। बच्चे खिलौने छोड़कर उन चीजों की मांग करने लगते हैं जो उनके विकास के लिए उपयोगी, उसमें सहायक होती हैं। जैसे-जैसे उनका चेतना स्तर विकास को प्राप्त होता है, वे उपयुक्त पदार्थों की ओर, उन्नत मार्गों की ओर आकर्षित होने लगते हैं। अगर कोई बच्चा अभी पुरानी चीजों से ही संतुष्ट है, इसका अर्थ होता है कि उसका समय नहीं आया, उसका वर्तमान विकास-स्तर परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँचा। उसे अभी और अनुभव प्राप्त करना है, उसके लिए, उसी स्थिति में कुछ और सीखना शेष है। एक दिन उसकी चेतना में परिवर्तन आता है, उसकी क्षमताएँ विकसित होती हैं उसके लिए यह स्वाभाविक हो जाता है कि पुरानी वस्तु का, मार्ग का त्याग करे और ऊँची वस्तुओं का, ऊँचे मार्गों का अनुसंधान करे। तब, अगर वह पुरानी वस्तुओं से चिपके रहना चाहेगा तो अपने अंदर घुटन अनुभव करने लगता है।

२ – उनमें स्वाभाविक दोष देखते हुए भी, संकीर्णताओं के रहते हुए भी महापुरुष मनुष्यों को अपने साथ लेकर प्रगति-पथ पर बढ़ते हैं। हमारे स्वभाव की दुर्बलताओं को देखकर महापुरुष हमारा त्याग नहीं करते। प्रेम बरसाते, शरण प्रदान करते हैं।

३ – आत्म-साक्षात्कार से पहले हम जो भी करें वह तैयारी मात्र होता है। कोई व्यक्ति अपनी तैयारी कैसे करता है, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं, तैयारी का होना महत्वपूर्ण है। अगर हम मानते हैं कि मूर्ति पूजा निरर्थक है, उससे किसी ठोस आध्यात्मिक प्राप्ति का होना संभव नहीं तो हमें यह देखना है कि मूर्ति पूजा को अमान्य कर क्या हम आत्म-साक्षात्कार को संसिद्ध कर चुके ! कहीं ऐसा तो नहीं कि पूजक तो पूजा करते रहे, सीमित ही सही, उन्होंने आशीर्वाद भी प्राप्त किया और हम आलोचना ही करते रह जायें। न आत्म-उपलब्धि हो, न ईश्वर-दर्शन, न आर्शीवाद प्राप्त कर सकें। सावधान ! रे मन ! कहीं ऐसा न हो कि हम आलोचना करने में, विरोध करने में ही जीवन के दिन गुजार बैठें।

४ – इस संदर्भ में शास्त्र हमें एक अत्युत्तम परामर्श प्रदान करते गोचर होते हैं। शास्त्रों का कथन है कि दूसरों को मत देखें। स्वयं को देखें। अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पालन करें। स्वयं सही चेतना में रहें। अपने भाव को उचित अर्थात् आत्मिक रखें। ऐसा करने से हमें परमेश्वर के द्वारा

और अधिक ऊँचा कर्तव्य सौंपा जायेगा। तब जो कर्म, जो घटना हमारे कर्तव्य के अंतर्गत आ जाती है उसे संसिद्ध करने की क्षमता भी हमें प्रदान की जाती है और हमें पूर्ण आंतरिक संतुष्टि के साथ उसे करना भी चाहिये। वह हमारे लिए अनधिकार चेष्टा न रहकर एक 'कर्तव्य कर्म' हो जाता है।

५ – अभी सर्वोच्च सत्य पृथ्वी पर अवतरित नहीं हुआ। उसकी अभिव्यक्ति शेष है। सर्वोच्च स्तर में यह क्षमता स्वाभाविक है कि वह सबको अपनी ओर खींच लेता है। उसके चरणों में सभी अपनी-अपनी क्षमताएँ समर्पित करने में आंतरिक आनंद अनुभव करते हैं। वह एक महान आकर्षण का केन्द्र है। उसका अवतरण, उसकी उपस्थिति महानतम घटना होगी। परम सत्य की सर्वोच्च, श्वेततम ध्वजा के नीचे विभिन्न सत्यों की ध्वजाएँ हम झुकी देख रहे हैं। हमें चाहिये कि सर्वोच्च शिखर पर आरोहण संभव बनाएँ।

छोटी-छोटी चीजों को लेकर, पद-प्राप्ति आदि के कारण खींचातानी, आपसी झगड़े, वातावरण में तनाव, एक दूसरे पर कीचड़ फेंकना – यदि यही हमारे जीवन का स्वरूप रहा – कैसे हम अपने उद्देश्य में सफल होंगे ! कैसे समाज का उपकार करेंगे ! क्या हमारे संकल्प शब्द मात्र नहीं हैं ! हमारी आत्मा भीतर हमसे पूछ रही है।

आत्म-प्रभाव

जब हम सचेतन हो जाते हैं, आत्मा के प्रभाव में, उसके संपर्क में रहते हैं, हम अधर्म, पाप, अन्याय नहीं कर सकते। सचेतन व्यक्ति चेतना के निम्न स्तर पर नहीं आ सकता। लोभ अथवा स्वार्थ में नहीं डूब सकता। तब क्या है वह आधार जिसके सहारे मनुष्य पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है ! जब तक हम अपने सच्चे स्वरूप के विषय में सचेतन नहीं हैं हमारे अंदर पूर्ण मानव-व्यक्तित्व गठित नहीं होता। भीतर चेतना उद्घाटित नहीं होती, हृदय-आवरण नहीं गिरता, जीवन-मार्ग ज्योतिर्मय नहीं होते। आंतरिक दृष्टि से वंचित रहते हैं। हम अज्ञान की शक्तियों के, जिन्हें विरोधी शक्ति कहा जाता है प्रभाव में आ जाते हैं और उनका यंत्र बनते हैं। इन शक्तियों का संसार में यही लक्ष्य है – कैसे भी मानव के भीतर छिपी दिव्यता को उसके स्वभाव में प्रवाहित न होने देना। सत्य, धर्म, प्रेम से भरे वातावरण को विकृत कर उसे असत्य, अधर्म, घृणा से भर देना।

पापवृत्ति का मूल इतना ही नहीं है। कहीं-कहीं एक शिक्षित वर्ग को भी – धार्मिक कहे जानेवाले संप्रदायों को भी महा पाप-कर्म करते पाते हैं। इतिहास साक्षी है, व्यक्तिगत स्तर पर द्वेष-भावना के कारण नहीं वरन्, धार्मिक द्वेष-भावना के कारण, जातीय भेद के कारण कलह बढ़ी। मनुष्य-मनुष्य का शत्रु बना। शत्रु रूप में उसके सम्मुख

आया। धरती रक्त-रंजित हुई। संसार हिंसा की लपटों में सबसे अधिक जला।

इस सबके ऊपर भी एक उदाहरण है। जब मनुष्य यह सोच लेता है कि वह संसार में भगवान का कार्य कर रहा है तब वह धर्म-अधर्म में, न्याय-अन्याय में, सत्य-असत्य में अंतर करना छोड़ देता है। वह समझता है "मैं जो भी कर रहा हूँ सब भगवान के लिए कर रहा हूँ और भगवान के कार्य के लिए, उसकी संसिद्धि के लिए कुछ भी किया जा सकता है। कैसे भी कार्य पूर्ण होना चाहिये। युद्ध में विजय प्राप्त होनी चाहिये।"

यह भाव अदिव्य है। अनुचित है। इसमें अहंकार की गंध का मिश्रण है। यह मानव में स्थित उसकी आत्मा का भाव नहीं है। अगर हम अपने तर्क के पक्ष में किसी अवतार अथवा महापुरुष का दृष्टांत लेते हैं कि उसने भी तो छल-कपट से, अन्याय-अधर्म से लक्षित कर्म को संसिद्ध किया था – तो उससे पहले हमें समझना चाहिये कि एक अवतार या महापुरुष के पीछे, एक युग-पुरुष या प्रवर्तक के पीछे उसका परिचालन करने के लिए दिव्य चेतना हो सकती है, किन्तु, जब उसकी ग्रहणशीलता की बात आती है तब वह चेतना सीमित यंत्रों पर, सीमित व्यक्ति-चेतना-स्तर पर निर्भर करती है। यंत्र की सीमाओं में आकर अनन्त चेतना को सीमित होना पड़ता है। यंत्र पर निर्भर करना पड़ता है। भीम और अर्जुन, भीष्म और द्रोण

कृपाण के सहारे महाभारत को इतना शीघ्र समाप्त नहीं कर सकते थे। आज तक पृथ्वी पर अवतरित होनवाली आत्माओं में कोई भी पूर्ण मानव नहीं था। सभी में कुछ न कुछ अपूर्णता थी। प्राकृतिक ढंग से उत्पन्न कोई भी मनुष्य पूर्ण मानव कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता – आत्म-चैतन्य जिसके अंदर, ज़िसके द्वारा, अपने सब गुणों के साथ, क्षमताओं के साथ चरितार्थ हो सके – जो चरम पूर्णता को पूर्णतः धारण करने में समर्थ हो। अगर कोई यह दावा करता है तो इसका अर्थ है कि उसने पूर्णता के सही भाव को ठीक-ठीक नहीं समझा है। पूर्णतः अर्थात् जहाँ सब प्रकार की अपूर्णताओं का अभाव है और हम अपने अस्तित्व के लिए किसी तत्व पर निर्भर नहीं करते, अनंत आत्मा की समग्र दृष्टि से सम्पन्न होते हैं। सब प्रकार की शक्तियों की, परिवर्तन की भी, जिसे मृत्यु कहते हैं, दासता से मुक्त होते हैं।

जब तक हमें अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए किसी भी शक्ति पर अथवा प्रकृति पर निर्भर करना पड़ता है तब तक हम पूर्ण नहीं हैं। श्रीअरविन्द के अनुसार आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित मानव पूर्ण मानव होगा, जिसे उन्होंने अतिमानव की संज्ञा प्रदान की है। अतिमानव अपने अस्तित्व के लिए प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर नहीं करेगा। यहाँ तक कि अगर वह चाहेगा, उसे खड़े होने के लिए पृथ्वी रूपी आधार की भी आवश्यकता नहीं होगी। अज्ञान उसे स्पर्श

नहीं कर पायेगा। व्यक्ति-चेतना की परिधि से वह सर्वथा मुक्त होगा। आत्मा की सर्वज्ञ चेतना उसकी स्वाभाविक चेतना होगी,जैसे मनुष्य के लिए मानसिक चेतना है।

अतिमानव संसार में परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करेगा। भागवत चेतना जिसे हम अतिमानसिक चेतना कहते हैं, उसके द्वारा अपने आपको सीधी अभिव्यक्त करेगी। मनुष्य को, उसके जीवन को आत्मा की दिव्यता में उठाना, उसमें रूपान्तरित करना उसका कर्म होगा, संसार में उसके जीवन का स्वरूप होगा।

समाजों की तथा धर्मों की वर्तमान समस्या को सम्मुख रख मैंने संदेश मांगा । जिसका भाव इस प्रकार है –

हे मानव ! तू अपने आपको चाहे किसी भी समाज से बांध ले, चाहे किसी भी धर्म का अनुयायी हो, तेरी समस्या का कारण तेरे भीतर है। वह तेरा आत्म-अज्ञान है। क्षुद्र अहमात्मक सीमित चेतना में निवास है। जब तक तू विश्व-पुरुष के चेतना स्तर पर आरोहण नहीं करेगा, जब तक अहंकार की परिधि से बाहर आकर आत्मा की विशाल सीमाहीन अनंत चेतना में नहीं उठेगा, तू दुख-कष्ट से छुटकारा पाने में सफल नहीं हो सकेगा। आवागमन के चक्र में तू रौंदा जायेगा। मुक्तावस्था से वंचित रहेगा। आत्मा के आनंद में तेरा निवास संभव नहीं होगा।

अवसाद को जय करें

हमारे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। हमारा यह वर्तमान व्यक्तित्व रूपी भवन उन्हीं की नींव पर स्थित है। वे इस व्यक्तित्व के पीछे एक प्रभाव के रूप में स्वाभाविक संस्कारों और वृत्तियों के साथ आज भी हमारी पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं, अवचेतना में एकत्रित हैं। हमारी व्यक्तिगत अवचेतना, समष्टि में व्यष्टि की भांति, विश्व-अवचेतना का ही एक अंग होती है। विश्व-अवचेतना अनंत सिंधु है जिसमें व्यक्ति के, देश के, विश्व के संस्कार बीज रूप में एकत्रित रहते हैं। जैसे ही हमारा मन किंचित शांत होता है अथवा हम निद्रा में डूब जाते हैं ये संस्कार ऊपर उभर आते हैं, हमें प्रभावित कर लेते हैं। अगर हम निद्रा में हैं तो इनका प्रभाव हम स्वप्न के रूप में देखते हैं। अवसाद के प्रकंपनों के द्वारा जब हम अधिकृत होते हैं अथवा किसी चीज के लिए हमारे अंदर अत्यधिक जोश उठता है, या निराशा छा जाती है उसका कारण भी इनका अवचेतन मन से ऊपरी तल पर आना है। सचेतन व्यक्ति की बात पृथक् है। वह अपनी अंतरात्मा के प्रभाव में रहता है। उसका हर विचार, हर प्रयास उसके जीवन लक्ष्य की ओर अर्थात् आत्म-साक्षात्कार की ओर, प्रभु आदेश-पालन की ओर होता है। उच्च चेतनाओं के प्रति उद्घाटन में, उन्हें अपने अंदर धारण करने में ही वह प्रयत्नशील रहता है। यही

उसकी स्वाभाविक अवस्था होती है। और यही हर व्यक्ति की होनी चाहिये। तभी आत्म-विकास द्रुत गति से सम्पन्न होना संभव होता है।

अवसादग्रस्त वे होते हैं जो सचेतन नहीं हैं। जो अपने अहंकार में निवास करते हैं। मन, शरीर और इंद्रियों के साथ एक रहते हैं। उसे ही अपना आप समझते हैं। उनकी प्रकृति को अपनी प्रकृति, उनके स्वभाव को अपना स्वभाव समझते हैं। एक शब्द में, उनकी मांगों को अपनी मानते हैं।

पृथक्करण अनिवार्य है। हमें अपने अंदर प्रवेश करना सीखना होगा और मन, शरीर एवं इंद्रियाँ-रूपी अपने यंत्रों से अपने आपको पृथक् देखने का अभ्यासी बनना होगा। मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुष हमें यंत्र-रूप में मिले हैं। इनके द्वारा हमारी आत्मा अपने आपको अभिव्यक्त करती है। जितना अधिक ये यंत्र आत्मा के प्रभाव में रहने लगते हैं, उतनी ही सीधी और शुद्ध हमारी अभिव्यक्ति होती है। हमारे अंदर, हमारे द्वारा, हमारी आत्मा के संकल्प की चरितार्थता उतनी ही अंतर्सत्य से ओत-प्रोत होती है, अर्थात् हम आंतरिक सत्य में निवास करते हैं। हमारे विचार, कर्म और वाणी में सत्य प्रवाहित होता है। ऐसा सत्यमय जीवन ही सही जीवन है। इसे ही शास्त्रों में मानव-जीवन कहा है। जिस जीवन में आत्म-ज्योति नहीं, चेतना नहीं, आत्मा के गुणों का प्रसारण नहीं, वह सही अर्थ में मनुष्य का जीवन नहीं है। आंतरिक सत्य पर आधारित जीवन ही

जीवन है। उसमें ही हम जीवंनमुक्त पुरुष की चेतना में उठ सकते हैं। प्रकृति पर प्रभुत्व, परिस्थितियों पर नियंत्रण, मार्ग में आनेवाली अड़चनों का सामना करने के लिए, मन पर विजय पाने के लिए आवश्यक शक्ति और साहस हमें प्राप्त होता है। हम सदैव स्फूर्त और आनंदित रहते हैं। सफलता में विश्वास हमारे आगे-आगे चलता है। एक अभय-हस्त हम अपने पीछे देखते हैं। प्रभु-कृपा हमारा पथ संवारती है। एक दिव्य इंगित हमारा पथ-प्रदर्शक होता है। मुदित मन, अंदर-बाहर सचेतन, पूर्ण समर्पित भाव में डूबे, प्रभु के लिए, प्रभु के होकर, हम उनके यंत्र के रूप में पृथ्वी पर, जब तक वे चाहें, जैसे वे चाहें, निवास करते हैं।

सचेतन व्यक्ति अपने लिए नहीं जीता। उसका जीवन, जीवन-स्वामी के लिए होता है। वह प्रभु का यंत्र होता है। कभी अहंकार के प्रभाव में नहीं आता। वह आत्म-इंगित का अनुसरण करता है। अवचेतना से उठी कोई लहर उसे विचलित नहीं कर सकती। उसके लिए अवसाद जैसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। वह पूर्ण समर्पित है। उसके जीवन-रथ का सारथ्य स्वयं भगवान करते हैं। जगत जननी की गोद में उसका निवास है। उसके हृदय से अहंकर और वासना से निर्मित पर्दा हट जाने के फलस्वरूप आत्मा का आनंद उसके जीवन में प्रवाहित होता है। वही उसका स्वभाव बन जाता है। हम मनुष्य रहते हुए, मानवीय स्तर का अतिक्रमण कर जाते हैं।

धर्मिकता

मानव की, मानवता की सब समस्याओं का मूल उसका आत्म-अज्ञान है और जब तक मनुष्य इससे बाहर नहीं आयेगा, समस्याएं बनी रहेंगी। आत्म-अज्ञान में हम अपने आपको दूसरों से पृथक् देखते हैं। पृथकत्व मौलिक सत्य के बिल्कुल विपरीत वस्तु है। पूर्णतः विरोधी तथ्य है। पृथकत्व में हम व्यक्तिगत सीमित चेतना में निवास करते हैं और अपनी ही मांगों को, स्वार्थों को लेकर, उनकी पूर्ति में डूबे रहते हैं। दूसरों के साथ हर व्यवहार में हमारा अहंकार अपने आपको केंद्र बनाकर जीवन की व्यवस्था करता है, मार्गों पर अग्रसर होता है।

जब हम कुछ और अधिक बुद्धिमान होते हैं तो हमारी विचार-परिधि व्यक्तिगत स्वार्थ को केंद्र न बनाकर अपनी जाति तथा धर्म का रूप ग्रहण कर लेती है। हमारा हर प्रयास एक ही दिशा में रहता है कि कैसे अपनी जाति को, अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करें। सारी मनुष्य जाति को कैसे अपने धर्म में, अपने संप्रदाय में सम्मिलित कर सकें। इस सांप्रदायिक अहंकार के आवेग के द्वारा हम यहाँ तक अधिकृत हो जाते हैं, यह हमारे मन बुद्धि हृदय पर ऐसा छा जाता है कि हम अन्य धर्मावलम्बियों को बलपूर्वक, यहाँ तक कि परिस्थिति के वशीभूत करके, उनके लिए चारों ओर के मार्ग बंद कर अपने धर्म का अनुसरण कराने के लिए बाध्य करते हैं।

कभी-कभी तो यहाँ तक भी संभव हुआ, इतिहास साक्षी है, कि आततायियों को पिशाच वृत्ति अपनाते देखा गया। उन्होंने निर्दयता की सीमा लांघी। सीधे-सरल मनुष्यों को जीवन की मौलिक अनिवार्यताओं से भी वंचित किया। मनुष्यों के साथ ऐसा व्यवहार किया जो वे पशु से भी नहीं कर सकते थे।

हम अपने जातीय तथा साम्प्रदायिक अहंकार रूपी अंधकार में इतने बंद हो जाते हैं, हमें यह भान ही नहीं रहता कि हम एक ऐसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं जिसके सम्मुख महान से महान पाप कर्म भी तुच्छ हैं। कैसे मनुष्य जाति को इस चेतना स्तर से ऊपर उठाया जाये ! कैसे संप्रदाय रूपी कुठारे से मानव आत्मा की गर्दन मुक्त की जाये।

मैंने शीश झुकाया, प्रभु से प्रार्थना की, अपनी हृदय-पुस्तिका उनके सामने खोली, अपनी मानसिक वेदना उन्हें अर्पण की। भारत भूमि की आज की समस्या टूटे-फूटे शब्दों में उनके चरणों में निवेदित की और एकाग्र चित्त होकर विनीत भाव में, शिशु-सी सरलता के साथ उत्तर की प्रतीक्षा में चरणों में बैठा। अगर सारी पृथ्वी एक ही धर्म का अनुसरण करे तब भी मानव की समस्याएं बनी रहेंगी। कलह रहेगा, घृणा रहेगी, शत्रुता रहेगी, ईर्षा-द्वेष रहेंगे। स्वभाव का परिवर्तन अनिवार्य है, जो आत्म-चेतना में निवास करने से संभव होता है। आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि, उसमें उत्थान, जीवन में उसकी चरितार्थता ही व्यक्ति की तथा समाज की सब समस्याओं का समाधान है।

स्वर्णिम अवसर

श्रीअरविन्द ने अपनी दीर्घ एवं महान तपस्या के द्वारा, स्वर्ग की समस्त सम्पदा बटोर कर, हमारे द्वार पर एकत्रित की है। सूक्ष्म भौतिक जगत में सब प्रस्तुत है। हमें चाहिये कि अपने द्वार खोलें और उसे अन्दर लें। दिव्य चेतना जो संसार में अवतरित हुई है, हमारा रूपांतर चाहती है। मानव का तथा उसके जीवन का आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण चाहती है। वह हमारे व्यक्तित्व में से किसी चीज की मांग नहीं करती। हमारी प्रकृति में जो अदिव्य है, तमसाच्छन्न है, केवल उसी की मांग करती है। पृथ्वी पर अतिमानसिक चेतना का अवतरण संभव हुआ है जो मानव-चेतना स्तर को तथा उसके जीवन को आत्मा की दिव्यता में उठाने में सुसमर्थ है। हमें चाहिये कि हम उसे समर्पित रहें। उसके कार्य में सहयोग प्रदान करें।

यदि हम अपनी संपूर्ण सत्ता को उसकी ओर उद्घाटित करें, हम देखेंगे कि हमारा जीवन एक अलौकिक दिव्यता से, उच्चतर शांति, चेतना और प्रकाश से भरपूर हो उठा है। जो चीजें हमारे संताप का कारण बनती थीं वे हमारी प्रकृति में से, चेतना में से झड़ती जा रही हैं। जो हमारे आत्म-विकास में बाधक बनी खड़ी थीं, निर्जीव हो गई हैं। अड़चनें मार्ग छोड़ कर पीछे हट गई हैं।

हे मानव ! इस स्वर्णिम अवसर से लाभ उठा। इसे व्यर्थ न गंवा। तेरा जीवन उत्थान लाभ करेगा।

भ्रांति से बाहर आयें

मित्र ने कहा "प्रोफेसर नागो से मिलेंगे।" मैंने कहा चलो आये हैं तो मिल लेते हैं। गये तो देखा श्रीमान् जी हमें देखते ही कुछ छिपा रहे हैं। बैठते ही मैंने कहा छिपाने की आवश्यकता नहीं। इसे सामने रखिये। अच्छी तरह देख लीजिये। यह आपके जीवन की अंतिम बोतल होगी। 'वह कैसे ! मैं तो यह सोच भी नहीं सकता।' मैं आपको वह पिलाऊँगा जिसे पीते ही आप इसकी ओर पुनः कभी नहीं देखेंगे। "मैं समझा नहीं। कुछ खुलासा कीजिये।"

"मुझे मेरी यह बोतल पूरा डुबो देती है। मैं पूर्ण तृप्ति अनुभव करता हूँ। कहीं कोई मांग, कोई समस्या नहीं रहती।" आप भ्रांति में हैं श्रीमान्। मैंने कहा। आप पैग पर पैग पिये जा रहे हैं और इस प्रकार पीते शायद आपको बहुत वर्ष बीत चुके हैं। लेकिन फिर भी आपकी प्यास नहीं मिटी। आप प्यासे हैं। "नहीं श्रीमान् जी ऐसा नहीं है।" उसने कहा। "मैं पूरी तरह तृप्त हूँ। भीतर बाहर सब, मेरा रोम-रोम तृप्त है।" आप ऐसा कह रहे हैं क्योंकि आपके अंदर अपनी समग्र सत्ता को देखने की दृष्टि नहीं है। मैं आपके अंदर एक चिर प्यासे व्यक्तित्व को देख रहा हूँ। प्यास से उसके होठ सूखे हैं। चेहरे पर उदासी है। मानों एक राजकुमार को उसके राज्याभिषेक की आयु होने के साथ-साथ राज्य से निर्वासित कर दिया गया हो। वह संतप्त

है। उसने कहा, "मेरे लिए तो यह सब एक पहेली के समान है। कृपया विस्तार के साथ समझायें। कुछ ऐसा कहें जो मेरी समझ के, मेरी भाषा के अंतर्गत हो।" मैंने कहा मदिरा-पान से आपका शरीर आनंदित होता है। उसकी प्यास बुझती है। मस्तिष्क पर उसका नशा छा जाता है। आप विस्मृति में डुबा दिये जाते हैं। अचेतनता छा जाती है। आप समझते हैं कि आपकी कोई समस्या नहीं है। यह कुछ-कुछ ऐसा है जैसे जंगल में एक शिकारी को प्यास लगी थी, उसका कुत्ता भी प्यासा था। मार्ग में एक तालाब आया तो कुत्ते ने तुरंत पानी पी लिया और अपनी प्यास बुझा ली। किन्तु उसका स्वामी प्यासा रहा। तालाब के गंदे जल को वह नहीं पी सका था।

आप अपने आपको शरीर समझते हैं और उसके तृप्त होते ही अपने आपको तृप्त समझते हैं। फिर जीवन का अवलोकन करनेवाला, प्रश्न उठानेवाला वहाँ कोई नहीं रहता है। अचेतनता की इस अवस्था को आप मस्ती समझते हैं। आनंद की अनुभूति मानते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। आप केवल शरीर नहीं हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इंद्रियाँ आपके यंत्र हैं। आप यंत्री हैं। यह सब मिलकर एक रथ के समान है जिसमें आप रथी बनकर यात्रा कर रहे हैं। आप नहीं समझते, जब हम भोगों में, विषयों में, व्यसनों में डूब जाते हैं, अपने आपको आनन्दमग्न समझते हैं, हमारे अंदर कोई रुदन करता है। जब व्यक्ति अपनी वासना की तृप्ति के लिए इंद्रियों

में रमण करते हैं, तो कोई भीतर घुटन अनुभव करता है। हमारी ओर से मुँह फेर लेता है, भीतर कक्ष में आँख मूंदकर बैठ जाता है। और यह वही है, जिसके बल पर हम कहते हैं यह शरीर मेरा है। मेरे मन में ये विचार उठ रहे हैं।

आप मानते हैं शरीर आपका है। "जी हाँ, मानता हूँ।" इसका अर्थ है कि आप शरीर नहीं हैं, शरीर आपका है। "हाँ, है तो बात ऐसी ही।" तो फिर क्या आपने कभी सोचा है कि आप कौन हैं ? हम सबका यह अनुभव है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें हम करते हैं और करने के पश्चात् पछताते हैं। आश्चर्य भी करते हैं कि मैंने क्यों किया, कैसे मुझसे हो गया। क्या आप सोच सकते हैं, विश्व-प्रकृति में दूसरी शक्तियाँ भी हैं, जिन्हें आप देख नहीं पाते और जो आपके द्वारा कुछ भी करा लेती हैं, जो आप नहीं चाहते वह भी करा लेती हैं ! क्या आप जानते हैं कि आपकी सत्ता में दूसरे भाग भी हैं जो आंतरिक हैं। दिव्य हैं। अंतस्थ सत्य के अधिक समीप हैं।

जब देश अथवा धर्म पर आपत्ति आती है उस संकटापन्न स्थिति में हम अपने आपको झोंक देते हैं। हम कहते हैं यह घड़ी ऐसी है जिसमें हमें अपने जीवन की आहुति दे देनी चाहिये। अपने प्राणों का मोह त्याग देना चाहिये। इस शरीर पर जो भी कष्ट आये, भूख-प्यास सहनी पड़े, सबको सहन करने के लिए तत्पर रहना चाहिये। क्या हमने कभी सोचा, कि कौन है वह जो कह रहा है "मैं अपने शरीर की, प्राणों

की, जीवन की बलि दूंगा।'' अवश्य वह एक जीवन-स्वामी होगा तभी तो वह अपने जीवन को बाजी पर लगा सकता है। जो शरीर जरा से कष्ट से घबराता है, वही खुशी-खुशी महान से महान यंत्रणा को, यहाँ तक कि मृत्यु को भी हँसते-हँसते वरण करता है। किसका प्रभाव है यह ! किसकी प्रेरणा ! अवश्य वह कोई शरीर से भिन्न शक्ति है। दिव्य पुरुष है। जो शरीर तथा मन को प्रेरित करता है, उसे आदेश देता है। और वह करने को बाध्य करता है जो उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। अगर मृत्यु को वरण करने में शरीर और मन के अंदर हम प्रसन्नता का भाव देखते हैं तो अवश्य यह भी उसी दिव्य पुरुष के संकल्प की चरितार्थता होना चाहिये, जो कि हमारी सत्ता में हमारा सच्चा व्यक्तित्व है। अंत में मैं आपको इतना ही कहूँगा कि जब तक मनुष्य इस शरीर रूपी पिंजरे से अपने आपको पृथक् नहीं करता, पृथक् नहीं देख पाता, वह एक अबोध शिशु है। उसे समझ नहीं है कि संसार में मानव जीवन का अर्थ है खोज। यह खोज किसकी ! उस सृष्टिकर्ता की जो इन पदार्थों एवं प्राणियों की सृष्टि करके इनमें छिप गया है। वही प्राणी मात्र के अंदर जीवन है, जीवन का स्वामी है। वही चेतना है, वही सबका उद्गम है। वह एक है। सब उसी का विस्तार है। अपने मूल में हर प्राणी, हर पदार्थ वही है। कारण, मूल अस्तित्व वही है। सब उसका विस्तार है। अपने मूल स्वरूप को खोजने के लिए, उसी की प्राप्ति के लिए

हम संसार में आते हैं। इस प्रकार धरती पर मानव-जीवन एक शिक्षा-केन्द्र है। जिसमें मानव-आत्मा अपने विकास की चरितार्थता के लिए अवतरित होती है। स्वयं उन्नत होती है और अपने यंत्रों को, मन, शरीर, इंद्रियों को शिक्षित करती है। उनके स्वभाव में परिवर्तन लाती है। विकास के उच्च स्तरों पर मनुष्य को अपने सच्चे स्वरूप का बोध होता है। उससे तादात्म्य लाभ करता है। फलस्वरूप आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। आत्मा की मुक्त चेतना में स्थित होकर संसार में अपना कर्तव्य पालन करता है।

मानव जीवन एक अति महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान वस्तु है। इसमें उच्च उपलब्धियों की तथा दिव्य संपदाओं की प्राप्ति की अनंत संभावनाएं विद्यमान हैं। अगर हम इसे सही ढंग से जीना सीख लें, अगर हमें जीवन जीने की कला प्राप्त हो जाये तो उसके फलस्वरूप हम धरती के जीवन को स्वर्गिक वैभव से भरपूर बना सकते हैं और इससे भी अधिक कुछ, इसे आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित कर सकते हैं। इसकी प्रेरणा का बीज हमारे अंदर है। इसे करने की सामर्थ्य हमारी आत्मा में निहित है, भले ही आज वह आच्छादित है।

स्वार्थ भाव – एक कूप

स्वार्थ भाव हमें अंधा बनाता है। जितना अधिक हम स्वार्थ भाव के द्वारा अधिकृत होते हैं उतना ही अधिक घना पर्दा हमारी आत्मा पर पड़ता है। मार्ग तमसाच्छन्न होते हैं। हम अन्याय-अधर्म में डूबते हैं।

साधारण मनुष्यों की बात हम नहीं करते। जो विद्वान हैं, समाज में प्रतिष्ठित हैं, ऊँचे पद पर हैं, वे भी जब देखते हैं कि अमुक व्यक्ति अथवा समाज या समिति का आचरण दोषों से, भ्रष्टाचार से पूर्ण है, कुछ ऐसा हो रहा है जो देश के लिए, मानव-जाति के लिए नैतिक पतन का कारण बन रहा है, उसके जीवन-स्तर से नीति, धर्म तथा सत्य दूर हो रहे हैं, तब भी आवाज नहीं उठाते, खुल कर विरोध नहीं करते। इसके विपरीत उस ओर से अपना ध्यान हटा लेते हैं। मानों देश अथवा जाति की समस्या उनकी अपनी समस्या नहीं है। इसके साथ उनका आंतरिक अथवा बाह्य कोई संबंध नहीं है।

क्या हमने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है ! इसका कारण हमारे स्वभाव में है। हम दुर्बल हैं। हमारे अंदर आत्म-शक्ति नहीं है। आत्म-शक्ति का अभाव ही इसका कारण है। हम बाह्य व्यक्तित्व को ही अपनी संपूर्ण सत्ता समझते हैं। बाह्य-जीवन को, जो भी हमारा व्यापार है, उसे ही अपना संपूर्ण जीवन समझते हैं। हमें भय रहता है कि कहीं हमें आँच न आ जाये। मिथ्या के विरोध में आवाज

उठाने से कहीं हमारी सुख पूर्वक बढ़ती हुई जीवन नौका किसी संकट में न पड़ जाये। हम सब प्रकार से सुरक्षित रहना चाहते हैं। सुखी रहना ही हमारा जीवन लक्ष्य है। हम किसी भी रूप में अपने सुख की आहुति देना नहीं चाहते। देश अथवा जाति के कल्याण के लिए हम सुख से वंचित होना नहीं चाहते। जीवन का स्तर चाहे कितना भी हीन हो, दृष्टिकोण चाहे कितना भी निम्न हो, सीमित हो हम उसकी चिंता नहीं करते। हमें ज्ञात है कि हम सही नहीं हैं, जो भाव हमने अपनाया है वह न नैतिक है न धार्मिक है, न आध्यात्मिक। फिर भी हम उसे ही ग्रहण किये जीवन के दिन बिताना चाहते हैं। केवल अपनी और अपने परिवार की सुरक्षा की ओर हमारा ध्यान जाता है। अपने पद को सुरक्षित बनाये रखना ही हमारे प्रयास का स्वरूप होता है। देश तथा समाज की उन्नति की ओर हमारा विचार नहीं जाता। उनके पतन की, उनमें उत्पन्न विषाक्त तत्वों की चिन्ता हमें नहीं कचोटती। हम कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहते जिसके कारण परेशानी खड़ी होती हो। सुख-शांति के छिनने की संभावना उत्पन्न होती हो।

मनुष्य में चिन्तनशील मन क्रियाशील होना चाहिये, हर विचार सत्ता की गहराई से उठना चाहिये, हर कर्म में आत्मा का सत्य, उसकी चेतना, उसका प्रेम प्रकट होना चाहिये।

वेदांती मित्र

समुद्र के किनारे चट्टान पर बैठे एक वेदांती ने मुझे इंगित कर कहा– "क्रोध के स्थान पर मैं क्रोध करता हूँ, गर्व के स्थान पर गर्व, दया के स्थान पर दया, प्रेम के स्थान पर प्रेम, बलिदान के स्थान पर– जहाँ इसकी आवश्यकता होती है– सर्वस्व का बलिदान करता हूँ। आनंद हूँ, आनंद में रहता हुआ आनंद का भोग करता हूँ। सुनने में जरा अटपटा लगता है लेकिन अगर भेद समझ जायें तो ऐसा नहीं लगेगा। वह भेद है– यह सब मैं अपने आपसे करता हूँ। कारण, यहाँ सृष्टि में मुझसे अन्य कोई नहीं है।"

मैं मुस्कुराया और कहा – तथ्य इतना मात्र नहीं है। यह सत्ता का एकपक्षीय विवरण है। मनुष्य को उसकी जातीय समस्या का समाधान प्रदान नहीं करता। आपकी उपलब्धि व्यक्तिगत है। आज संसार को जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है सामूहिक उत्थान। सामूहिक रूप में अज्ञान से बाहर आना। वर्तमान तथाकथित मानव-कृत धर्मों से, सम्प्रदायों से ऊपर उठना। प्रचलित धार्मिकता का स्थान नई आध्यात्मिकता को, अतिमानसिक चेतना को प्रदान करना। आत्मा की मुक्त चेतना में निवास करते हुए उसके द्वारा निर्धारित कर्म करना।

नई चेतना ने, जिसे हम अतिमानसिक चेतना कहते हैं, संसार के सामने जो लक्ष्य निर्धारित किया है वह व्यक्तिगत

मुक्ति नहीं, वरन्, संपूर्ण मानव जाति की चेतना का आत्मा की दिव्यता में उत्थान, जीवन में उसका प्रवाह है। चेतना के विकास के द्वारा हमारे स्वभाव में परिवर्तन आता है। हम स्वार्थ-भाव को त्यागकर मानव मात्र के हित में सोचना प्रारंभ कर देते हैं।

हे प्रभु ! कितने दीन-हीन, कितने असहाय हो जाते हैं ये मानव प्राणी जब अपने सत्य स्वरूप से हटकर, इस शरीर मन अहंकार को अपना आप समझते, अपना सच्चा स्वरूप मानते हैं। जब ये अपनी उच्च, दिव्य, आध्यात्मिक प्रकृति को त्याग कर, कामनाओं, वासनाओं से भरी निम्न प्रकृति में निवास करते हैं और भोग-विलास को ही मनुष्य का जीवन समझते, सुख-वैभव को जुटाने में ही इस अमूल्य निधि को नष्ट करते हैं। अगर ये जागें, जो सब महान वस्तुएँ जीवन प्रदान कर सकता है, उनके प्रति सचेतन हों, तो इनका जीवन एक उच्च आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करेगा, आत्मा की शांति, शक्ति, ज्योति उसमें प्रवाहित होंगी और ये पृथ्वी पर ही स्वर्ग से अधिक सुख अनुभव करेंगे। अज्ञान-अंधकार, दुख, भय, संकट से पृथ्वी का वातावरण सदा के लिए मुक्त हो जाएगा।

अगला चरण

जब तक हिन्दू धर्म है संसार में दूसरे धर्म भी रहेंगे। इस्लाम और ईसाई धर्म भी रहेंगे।

जब भारत वर्ष में धर्मों का स्थान आध्यात्मिकता ग्रहण करेगी तब पृथ्वी पर दूसरे धर्म भी धर्म से ऊपर उठने की बात करेंगे।

एक दिन अवश्य आयेगा जब भारत की आध्यात्मिक ध्वजा के नीचे सारा संसार खड़ा होने में अपना श्रेय अनुभव करेगा।

जब तक समाज में गुरु रहेंगे तब तक मूर्ति पूजा भी रहेगी।

मनुष्य भीतर जागृत नहीं हैं और उन्हें चेतना में उत्थान लाने के लिए, असीम निराकार तत्व में प्रवेश करने के लिए साकार आधार की, एक अनिवार्य तथ्य के रूप में आवश्यकता रहती है। शास्त्रों का पथ-प्रदर्शन भी एक सीमा तक सहायक होता है।

सर्वोच्च गुरु, परम गुरु अंतस्थ देव हैं, जो प्राणी मात्र के हृदय में इसलिए विराजमान हैं कि उसे आत्म-विकास के मार्ग पर सहायता कर सकें।

जब पृथ्वी पर अतिमानव जाति निवास करेगी, भले ही उसके आगमन में एक सहस्र वर्ष लगें, जैसा कि श्रीअरविन्द के द्वारा घोषित किया गया है, तब किसी मध्यस्थ की –

मानव गुरु अथवा मू र्त्तियों की – आवश्यकता नहीं रहेगी। मनुष्य सचेतन होंगे। भीतर से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना उनके लिए सुलभ होगा। वे पथ-प्रदर्शन के लिए, सहायता के लिए बाह्य आधारों पर निर्भर नहीं करेंगे।

मैं धार्मिक हूँ। किन्तु किसी धर्म-विशेष का अनुसरण नहीं करता। संसार के प्रचलित धर्मों में, जैसा कि उनका स्वरूप आज हमारे सम्मुख है, मेरी आस्था नहीं है। मैं धार्मिक हूँ और स्व सत्ता के गहनतम धर्म का, उसके स्वभाव का पालन करता हूँ। मेरी आत्मा का धर्म ही मेरा धर्म है। प्राणियों में और पदार्थों में विराजमान उनकी अंतर्सत्ता का धर्म, उसका स्वभाव ही उनका धर्म होता है। इस धर्म की चरितार्थता ही व्यक्ति के जीवन का स्वरूप होना चाहिये। इसकी खोज ही उसका लक्ष्य। यह धर्म, जो उसकी आत्मा का स्वभाव है, यही वह है जो उसे विचार, भाव, कर्म में चरितार्थ करना है। यही सच्ची मानवता है। इसके द्वारा ही नई संभावनाओं का क्षितिज उसके सम्मुख खुलता है। नई क्षमताएँ उसे प्रदान की जाती हैं। मानव-चेतना की सीमाओं का अतिक्रमण करना उसके लिए संभव होता है। वह भागवत संकल्प के प्रति सचेतन हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए संसार में भगवान के द्वारा यंत्र रूप में चुना जाता है।

सूत्र

हमारे चिन्तन की गति-धारा ऊर्ध्वमुखी हो। हम अधिक से अधिक गहरे चिन्तन में डूबें। हृदय की गहनतम गहराई को स्पर्श करें। जहाँ दिव्य प्रेम का निर्झर सतत झरता है। हमें बाह्य व्यक्तित्व से परे जाकर सत्य को अमिश्रित रूप में देखने की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। उस चेतना-स्तर को अधिकृत करना चाहिये जहाँ विचार नया रूप ग्रहण करते हैं। उनके द्वारा अलौकिकता झरती है। हम मनसातीत सत्य के प्रति उद्घाति होने के लिए प्रेरित होते हैं। संसार को देखने का नया दृष्टिकोण हमें प्राप्त होता है जो कि नई आध्यात्मिकता पर आधारित है। नई आध्यात्मिकता जगत और जीवन के त्याग का पाठ नहीं पढ़ाती, वरन्, इसके रूपांतर की, आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण की प्रेरणा प्रदान करती है। उसमें उठकर हमें उच्च विवेक दृष्टि प्राप्त होती है। हम देखते हैं कि संपूर्ण सृष्टि परमात्मा की आत्म-अभिव्यक्ति है। यहाँ उनके सिवाय अन्य तत्व का, शक्ति का अस्तित्व नहीं। यह उनकी लीला है, नाटक है। जिसमें वे ही मंच हैं, वे ही सूत्रधार हैं, कलाकार हैं, अभिनय हैं और वे ही दर्शक बन सब देख रहे हैं।

* * *

हे महिमामय ! सामान्यतया मनुष्यों की दुर्बलताएँ कितनी तुच्छ हैं, जो इच्छाएँ इन्हें चलाती हैं उनका स्तर कितना निम्न है, जिन वस्तुओं में ये व्यस्त रहते हैं वे कितनी नगण्य हैं, सारहीन हैं। जब-जब इनके समीप होता हूँ इन्हें अवसाद से घिरा पाता हूँ, जब-जब इन पर दृष्टि डालता हूँ दुश्चिंताओं में डूबे मिलते हैं, जिन शक्तियों के ये यंत्र हैं, जो इन्हें अधिकृत किये रहती हैं, वे सब प्रायः रजोगुण की होती हैं। विश्व-प्रकृति की इन शक्तियों के कारण ही संसार दुखी है। ये ही, एक ओर मनुष्यों को कामनाओं के जाल बुनने में, वासनाओं में लिप्त रहने में प्रेरित करती हैं, राग-द्वेष, हानि-लाभ, मान-अपमान के भावों में आकर्षित करती हैं तथा दूसरी ओर इन्हें सन्मार्ग से, इनके आत्म-विकास के पथ से दूर रख कर, आत्म-विस्मृति में डुबाये रखती हैं। यही सृष्टि में उन शक्तियों का कर्म है। रजोगुण की आवेगों से भरी लहरों में मनुष्य अपनी सारी जीवन-शक्ति को गवां रहे हैं।

हे सृष्टिकर्ता ! हे परमेश्वर ! इनका उद्धार कर। अश्रु पोंछते मैं उठा। आश्वासन उपलब्ध कर अंदर उल्लास का सिंधु उमड़ रहा था। 'एक दिन आत्मा की हर अभिलाषा, हर अभीप्सा पूर्ण होगी। मनुष्य सचेतन होंगे। उनका जीवन-स्तर उत्थान लाभ करेगा।'

* * *

सब समय पूर्ण सचेतन रहना है। जो कर्तव्य हमारी आत्मा के द्वारा निर्धारित किया गया है उसकी पूर्त्ति में पूर्ण एकाग्र होकर हर्षित मन अग्रसर होना है। व्यक्तिगत स्तर पर हानि-लाभ की गणना से ऊपर उठना है।

अगर कहीं ऐसा धर्म-संकट उपस्थित हो जाये, भागवत आदेश हमें शास्त्रादेश के विपरीत प्रतीत हो, जबकि ऐसा यथार्थ में होता नहीं, कारण, अगर हम शास्त्रों की समग्र दृष्टि से वस्तु स्थिति का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि परमार्थ तत्व हो या उसकी अभिव्यक्ति रूप यह सृष्टि, सभी उसके अंतर्गत आता है। शास्त्रों की शिक्षा उसी मूल की ओर इंगित करती है जो एक है, अद्वितीय है, अखंड है। जिससे बाहर कुछ नहीं और जिसके ज्ञान के असंख्य स्तर हैं। जिनकी उपलब्धि के लिए मानव-चेतना को तैयार किया जा रहा है। समग्र आत्म-ज्ञान का सूर्य अभी मानव मन की पहुँच के परे की वस्तु है। सब सिद्ध पुरुष एवं शास्त्र मिलकर अब तक उसकी केवल एक किरण को ही अभिव्यक्त कर पाये हैं।

* * *

भगवान पर सब कुछ छोड़ने का अर्थ अपनी ओर से निष्क्रिय हो जाना, पुरुषार्थ न करना नहीं है। भगवान पर छोड़ने का अर्थ है अपनी ओर से अपना कर्तव्य निभाना। भागवत सहायता का आह्वान करना, परिणाम उसके हाथों में छोड़ देना।

* * *

संसार के किसी पदार्थ को अपना मत समझ। शरीर को तू अपना आप समझता है, यह भ्रांति है। भ्रांति से बाहर आ। विवेक-दृष्टि प्राप्त कर। आत्म-चेतना में स्थित हो। तू शरीर नहीं है। यह तेरा यंत्र है। किसी की देन है, धरोहर है। इस पर तेरा अधिकार इतना मात्र है कि एक सीमा के अंदर यह तेरी इच्छा के अनुसार बर्ताव करता है। इसके विपरीत भी एक तथ्य है। यह तेरी इच्छा के बिना व्याधिग्रस्त होता है। वृद्धता को प्राप्त होता है। तुझे त्याग देता है। इसकी ऊर्जा पर, जीवन पर, आन्तरिक गतियों पर तेरा अधिकार नहीं है। तू चाहते हुए भी, जितना चाहे इससे कार्य नहीं ले सकता। इसे इसके स्वाभाविक अभ्यासों से, आदतों से दूर नहीं रख सकता। इसकी भूख, नींद, विश्राम की मांग तुझे सुननी पड़ती है।

* * *

दूर हृदय की गहराई में मैं उसके चरणों में बैठा – "मेरी वाणी को सीधा मुझसे सुन। हर समाधान मेरे द्वारा प्राप्त कर। हर सफलता के लिए मेरी शरण ग्रहण कर। हर चुनाव के लिए मेरी ओर मुड़। जो तू है, जो तेरे पास है अपना सब मुझे दे दे। पूर्णतः मेरा हो जा। मनुष्यों में जो सेवक का भाव अपनाता है, जिसका समर्पण सीधा मुझे होता है वह संसार में मेरे प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। भागवत यंत्र होना सृष्टि में सर्वोच्च उपलब्धि है।"

* * *

मनुष्य प्रतिष्ठा पाना चाहता है। प्रतिष्ठा पाने की इच्छा हमारे मनोमय पुरुष के अहंकार में है। उसके अंदर दूसरी इच्छा अधिक से अधिक सुखी होने की है। सुख पाने की इच्छा शारीरिक वृत्ति है। सामान्य मानव समझता है कि इन दोनों इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसे अधिक से अधिक धन संग्रह करना चाहिये। यही कारण है कि प्रायः मनुष्य धन-प्राप्ति के लिए अत्यधिक आकर्षित देखे जाते हैं। किन्तु यह हमारी भूल है। मनुष्य नहीं समझते कि मान-प्रतिष्ठा पाने के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह धन नहीं है, वह है विद्या। और विद्या से भी अधिक जिस वस्तु की अनिवार्यता है वह है चेतना का विकास। धन हमें प्रतिष्ठा प्रदान कर सकता है। सुखी नहीं कर सकता। विद्या से प्रतिष्ठा तथा सुख दोनों प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु स्थायी सुख नहीं। मुक्ति नहीं। आत्मा की मुक्त चेतना प्राप्त नहीं हो सकती। स्थायी सुख दिव्य सुख है, जो आत्म-उपलब्धि से अर्थात् परम आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करने से प्राप्त होता है। उसमें निवास, जीवन में उसकी अभिव्यक्ति सृष्टि में अवतरित जीव का शास्त्रोक्त लक्ष्य है।

* * *

मन की शुद्धि, आवेगों पर संयम, चित्त की स्थिरता, कर्तव्य के लिए कष्ट-सहन, भक्ति भाव, क्षमा, धैर्य आदि भावों को अपने स्वभाव में स्थान प्रदान करने से हम जीवन के सामान्य स्तर से ऊपर उठ जाते हैं। हमारी सचेतनता बढ़ जाती है। इन भावों में हम अपनी आत्मा के समीप होते हैं। उसकी वाणी सुनते हैं। उसके द्वारा निर्धारित पथ पर चलते हैं। तृष्णा हमें बेचैन नहीं करती। हम कामनाओं की पूर्ति में समय नष्ट नहीं करते। फल-प्राप्ति की कामना में अशांत नहीं रहते। कैसी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो, शांति, स्थिरता, प्रसन्नता बनाये रखते हैं। हमारी चेतना ऊर्ध्वमुखी रहती है। भागवत उपस्थिति को, उनकी कृपा को अनुभव करते, जीवन-पथ पर और अधिक हर्ष और उत्साह के साथ अग्रसर होते हैं।

* * *

मत देख कि तेरे सामने हिन्दू खड़ा है या मुसलमान। ईसाई है या किसी अन्य धर्म का अवलम्बी। देख केवल एक मनुष्य, जिसके भीतर से उसकी आत्मा तेरी ओर देख कर मंगल कामनाओं से भरी मुस्कान बिखेर रही है और तेरी ओर से एक मधुर व्यवहार की, आत्मीयता से भरे व्यवहार की अपेक्षा कर रही है।

* * *

आत्म-विकास के मार्ग में असफल रहने के कारण समझाते हुए तूने मुझे बताया, जिसका भाव इस प्रकार है – इस असफलता के तीन मुख्य कारण हैं – धन में आसक्ति। संयम का अभाव। अहंकार के द्वारा प्रेरित-चालित जीवन।

जब तक धन में आसक्ति है, धन के प्रति हमारा दृष्टिकोण नहीं बदलता, मनुष्य आत्म-उन्नति के मार्ग में नहीं बढ़ सकते। धन के हम स्वामी नहीं, धन हमारा नहीं। धन किसी की देन है, धरोहर है और आत्म-विकास के लिए, विश्व-कल्याण के लिए हमें प्रदान किया गया है।

संयम का अभाव दूसरा कारण है। विचार, भाव, क्रियाएँ सब नियंत्रित हों। जीवन-स्वामी की इच्छा से, उसके इंगित पर निर्भर करें।

तीसरा कारण है, अहंकार के द्वारा प्रेरित-चालित जीवन यापित करना, जो समर्पण को असंभव बनाता है। समर्पण, जो कि एक मात्र हमारी सत्ता की परिपूर्णता में हेतु कहा गया है। समर्पण के द्वारा ही हम आत्मा की दिव्यता में उत्थान लाभ करते हैं। जीवन में उसका अवतरण संभव बनाते हैं।

हम अपने आत्म-विकास में इतने ऊँचे उठें, आत्म-परिपूर्णता का ऐसा स्तर प्राप्त करें कि पृथ्वी पर परमेश्वर के प्रतिनिधि होने की क्षमता यदि हमें प्रदान की जाये तो हम उसे धारण करने में समर्थ हो सकें।

* * *

जब तक हम शरीर में आसक्त हैं और इंद्रियों की मांगें पूरी करते हैं, जब तक धन आदि पदार्थों के प्रति हमारे भीतर लोभ है, परिवार में मोह है, तब तक समझें हमारे आत्म-विकास का सूर्य उदय नहीं हुआ। अज्ञान निशा की गहन निद्रा में हम सुप्त हैं। हमें समझना है, अज्ञान की छाया में बहनेवाले, अचेतनता में पलनेवाले जीवन में – जो जीवन केवल अपने लिए यापित किया जाता है, अहंकार की इच्छाओं की पूर्ति ही जिसका स्वरूप होता है – कुछ भी श्रेयस्कर संभव नहीं होता। उस गहरे कूप में पतन ही हमारी नियति होती है जिसका तल कभी सूर्य का दर्शन नहीं करता।

* * *

कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, हमें घबराना नहीं चाहिये। घबराना अपने आपमें कोई समाधान नहीं है। अपने स्वभाव की दुर्बलताओं पर अगर हम आज विजय नहीं प्राप्त कर सकते तो हमें निराश नहीं होना चाहिये। स्वभाव की कोई भी दुर्बलता स्थाई नहीं होती। दुर्बलताएँ हमारे अंदर प्रकंपनों के रूप में विश्व-प्रकृति से प्रवेश करती हैं। हमारी सत्ता का कोई भाग उनकी ओर उद्घाटित होता है। विश्व-प्रकृति की शक्तियाँ हमें यंत्र बना लेती हैं। जब तक हम आंतरिक व्यक्तित्व में स्थायी रूप से स्थित नहीं हो जाते हमारी सत्ता को कोई भी प्रभाव, विश्व-प्रकृति-सिंधु से उठी कोई भी लहर प्रभावित कर सकती है।

* * *

जब से यह शीश तेरे चरणों में झुका है तब से किसी के आगे नहीं झुका। किन्तु उनके चरणों में अवश्य झुकेगा जो विद्वान् अपनी विद्वत्ता संसार का जीवन सामंजस्यपूर्ण बनाने में भेंट चढ़ा रहे हैं।

मैंने उन धनी व्यक्तियों की ओर कभी आदरपूर्ण दृष्टि से नहीं देखा जिनका धन भोगों में अथवा स्व-प्रशस्ति में व्यय होता है। लेकिन उस धनी व्यक्ति को मेरी आत्मा ने मेरे देखते-देखते अपने दिव्य आलिंगन में बांध लिया जो निर्धनों के ऊपर साया बनकर छाया था। जिसने संकल्प लिया है कि उसका अंतिम पैसा भी देश-सेवा में, निर्धनों की सहायता में व्यय होगा।

* * *

अगर हम किसी को शत्रु समझते हैं, उसके प्रति हमारे हृदय में घृणा है तब भी उससे प्रेम करें। कारण, वह व्यक्ति उतना मात्र नहीं है जितना हम उसे देख रहे हैं। उसके अंदर एक आध्यात्मिक सत्ता भी है। जो हम सबके द्वारा एक दिव्य व्यवहार की अपेक्षा रखती है। कारण, वही हमारे अस्तित्व का अस्तित्व है। सबका आदि मूल है। सब वही है।

* * *

हम अपने आपको हिन्दू कहें या मुसलमान, ईसाई कहें या कुछ और, तू चाहे जगत-श्रेष्ठ आर्य जाति का वंशज है या अन्य किसी प्राचीन जाति के। स्मरण रहे ! हमारी समस्या हमारा अहंकार है जो आत्म-अज्ञान में निवास के कारण उत्पन्न होता है। जीवन का जो स्वरूप हम देख रहे हैं, ये कामनाएँ जिनकी पूर्ति में व्यस्त रहते हैं, आवेग जिनमें ग्रस्त है, प्रतिक्रियाएँ जो हमारे स्वभाव में उत्तेजना लाती हैं, हमारी शांति भंग कर देती हैं, सब हमारे अहंकार का स्वरूप है। हम इसी का चलाया चलते हैं। यही हमारा प्रेरक होता है। यही कारण है कि हम अपनी आत्मा पर पड़े पर्दे को अब तक नहीं हटा सके। आत्मा की ज्योति हमारे मन-बुद्धि पर नहीं पड़ी। शुद्ध विवेक से, अमिश्रित सत्य की समग्र दृष्टि से हम वंचित है और तब तक रहेंगे जब तक अपने अहंकार को अंतस्थ देव के चरणों में समर्पित नहीं करेंगे, जीवन को आत्मा के संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान नहीं करेंगे। तब तक भटकन कम नहीं होगी, गंतव्य दूर रहेगा। एक के बाद दूसरी समस्या हमारे विकास-पथ को अवरुद्ध करती रहेगी।

* * *

संसार में परमेश्वर का स्थान किसी व्यक्ति को, शक्ति को, देवता को प्रदान न करें।

* * *

मैं मूर्ति पूजक नहीं हूँ किन्तु उसका विरोध नहीं करता। जो पूजते हैं उन्हें हीन नहीं समझता। मैं पुण्यशील व्यक्ति का सम्मान करता हूँ, किन्तु पापी से घृणा नहीं करता।

मैं सनातन धर्म की शिक्षा का पालन करता हूँ। मेरी सत्ता के रोम-रोम में सनातन धर्म प्रवाहित है। प्रभु को समर्पित हूँ। सत्ता का निम्नतम भाग भी उसके प्रभाव से बाहर नहीं जा सकता। अपने अंदर स्वतंत्र इच्छा नहीं पाल सकता।

मैं स्वयं सत्य का पुजारी हूँ। मेरी समस्या है कि जिनका निवास मिथ्या में है, जो अधर्मी हैं, अन्यायी हैं, अनीति पूर्ण कर्म करते हैं, उन्हें कैसे सहन करूं ! क्यों करूँ ! मुझे उनसे घृणा करनी चाहिये थी। उनपर क्रोध करना चाहिये था। उन्हें नष्ट करने की योजना बनानी चाहिये थी। इस भाव को लेकर जब मैं हृदयेश्वर के चरणों में बैठा, उनके उत्तर ने मेरे सब भाव ऐसे उड़ा दिये जैसे अंधेरी गुफा के तम को दीपक की ज्योति।

जब इन व्यक्तियों पर दृष्टिपात करता हूँ, इनके अंदर से प्रभु को मुस्कान भरी दृष्टि से अपने ऊपर निहारते देखता हूँ। अमृत के मिठास से भरे वचनों में उसने कहा – "शिशुओं के लिए भूल करना स्वाभाविक है। जब तक वे शिशु रहते हैं क्षम्य होते हैं। मनुष्य जब तक अज्ञान में है दया का पात्र है। अगर तुम कुछ कर सकते हो तो तुम्हारे लिए एक ही कर्म करणीय है। कैसे भी इन्हें अज्ञान से बाहर लाया जाये।"

* * *

हे प्रभो ! दसों दिशाओं में भरपूर तेरी उपस्थिति को भूमि पर लेट कर प्रणाम करने के पश्चात्, अश्रु पोंछते मैंने कहा, जिन मूर्त्तियों में तू समाया है, जिनके भीतर से तू देख रहा है, जिनके अंदर, जिनके पीछे तेरी उपस्थिति हम अनुभव करते हैं उन्हीं मूर्त्तियों से मनुष्य घृणा करते हैं।

हमें सीखना है कि यह संपूर्ण सृष्टि तेरी मूर्ति है जिसमें तू समाया है, कण-कण में विराजमान है। जिसे तू दिन-दिन गढ़ रहा है क्योंकि मूर्ति अभी अपने निर्माण में है। निर्माण कार्य समाप्त नहीं हुआ। अभी इसके अंग-अंग में अंतस्थ आत्मा की ज्योति प्रतिबिम्बित नहीं हुई। भीतर जो छिपा है बाहर गोचर नहीं हो रहा है। इसका कण-कण सचेतन नहीं है। यह अपनी सम्पूर्ण सत्ता के द्वारा, अपने निम्नतम, पूर्णतः जड़, अचेतन भागों के द्वारा मूल को प्रवाहित करने में, परा चेतना को चरितार्थ करने में असमर्थ है। अभी तक आत्मा का माधुर्य इसके आंगन में झरना प्रारंभ नहीं हुआ है।

* * *

हम अपने आपको चाहे हिन्दू कहकर संतुष्ट हों और चाहे मुस्लिम, ईसाई आदि। हमारे भीतर आत्मा का इन चिह्नों से कोई संबंध नहीं है। वह सब धर्मों में, सब देशों में, सब जातियों में समान रूप से भ्रमण करती है। जब जहाँ जैसा उचित समझती, अपने विकास को उन्नत बनाने के लिए जन्म ग्रहण करती है।

* * *

मूर्ति पूजा करें किन्तु सजग होकर। मूर्ति भगवान नहीं है। मूर्ति में भगवान अवश्य हैं, यह समझकर। मूर्ति भगवान की असंख्य शक्तियों में से किसी एक का मूर्त्त रूप है। वह शक्ति भागवत अस्तित्व-सिंधु की केवल एक बूंद है। उसकी शक्ति, उसकी दृष्टि, उसकी चेतना सीमित है। फिर भी आत्म-अज्ञान में निवास करनेवाले सामान्य मनुष्यों से, जिनके हृदय पर पर्दा पड़ा है, अधिक है। केवल मूर्ति में ही अपने भावों को, श्रद्धा को बंद रखनेवाले इन आत्मीय स्वजनों को, बंधुओं को देखकर मेरा हृदय द्रवित हुआ। वह तेरी ओर मुड़ा। तेरी शरण ग्रहण की।

हे प्रभो ! ऐसी कृपा कर कि मनुष्य सत्य के समीप सीधे पहुँचें। सत्य के साथ उनका संबंध सीधा हो। किसी मध्यस्थ सत्ता के द्वारा नहीं। पिता और पुत्र के बीच कोई शक्ति, सत्ता अथवा तत्व न आये।

* * *

अवतारों, पैगम्बरों, मसीहों, भगवानों, देवी-देवताओं की ओर मुड़ने से नहीं, परमात्मा की शरण ग्रहण करने से मानव-जाति का उद्धार होगा। मनुष्य सामूहिक स्तर पर अज्ञान से बाहर आयेगा। परम्परागत रूढ़ियों की कैंचुली से मुक्त होगा। जब संसार मानवकृत धर्म-शास्त्रों से, पारम्परीय धारणाओं से, अवचेतन मन में जमें संस्कारों से ऊपर उठ जायेगा तब वह पृथ्वी पर अवतरित अतिमानसिक चेतना के प्रति सचेतन होने में सक्षम होगा। अतिमानस के अमृतमय
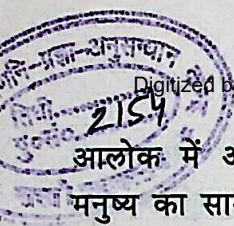
आलोक में अपनी चेतना का रूपान्तर संभव बनायेगा। मनुष्य का सामूहिक रूप में आत्मा की विशाल चेतना में उत्थान ही अतिमानवता में प्रथम चरण होगा। जो सृष्टिकर्ता परमात्मा संसार को प्रदान करना चाहते हैं।

* * *

आनेवाला समय अद्भुत होगा। मनुष्य का मूल्य उसके धनी होने पर निर्भर नहीं करेगा। उसके गुणों को, चेतना तथा हृदय की विशालता को देखकर समाज उसे सम्मान प्रदान करेगा।

संसार में आध्यात्मिक व्यक्ति तथा आविष्कारक ही प्रथम सम्मान के पात्र होंगे। आध्यात्मिक व्यक्ति अपना जीवन, अपनी उपलब्धियाँ संसार के उत्थान में – मानव मात्र को आत्मा की मुक्त चेतना में उठाने में – उसके सम्मुख स्थायी सुख का मार्ग प्रशस्त करने में समर्पित करेगा।

आविष्कार करनेवाला व्यक्ति धनोपार्जन के लिए अथवा आत्म-सम्मान के लिए कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा। वह व्यक्ति-चेतना की परिधि का अतिक्रमण करेगा। स्वार्थ-भाव से, अहमात्मक चेतना से ऊपर होगा। आंतरिक दृष्टि से सम्पन्न होगा। संसार को परमात्मा की आत्म-अभिव्यक्ति के रूप में देखेगा। मानव जीवन को नाना सुख-सुविधाओं से सजाना उसका लक्ष्य, उसके लिए सर्वाधिक प्रसन्नता का विषय होगा।

* * *

जो संसार को मिथ्या, माया की रचना कहते हैं उनसे संसार क्या आशा कर सकता है, उनसे क्या भला होनेवाला है !

धरती पर खड़ा हुआ जो धरती को ही मिथ्या कहता है उसके वचनों में किसे श्रद्धा हो सकती है !

संसार में जन्म लिया, यहीं पला, यहीं शिक्षा ग्रहण की और उसके बाद सब मिथ्या हो गया। न स्वयं है, न दूसरे, न जगत। न कोई कर्म, न कर्त्ता। न धर्म, न धार्मिक। न शास्त्र है न शिक्षा !

*

वातावरण शांत था। प्रवचन जारी था। "जगत मिथ्या है, स्वप्नवत है, माया की रचना है। जगत भासता है, प्रतीति मात्र है। वास्तव में है नहीं।"

प्रभो ! तब आपकी क्या स्थिति है, मैंने मित्र के साथ श्री चरणों में बैठते हुए पूछा। 'मैं ब्रह्म हूँ।' तब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं चरणोदक ग्रहण करूं। "अवश्य, अवश्य, यह लो।" आचार्यश्री ने चरण आगे सरकाते हुए अनुमति प्रदान की। प्रभो इसका फल क्या होगा ? 'अमरत्व लाभ करोगे। मुक्ति-पथ तुम्हारे सम्मुख खुलेगा। जन्म-मरण के बंधन से मुक्त रहोगे।" जो है ही नहीं, जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी मुक्ति का, उसके अमरता लाभ करने का प्रश्न कैसे उठाया जा सकता है ? कौन है वह जो अमर होगा ? मित्र ने मुस्कान भरे शब्दों में ब्रह्म को चौंकाया।

* * *

हमारे अन्य प्रकाशन

अभीप्सा त्याग समर्पण शब्द मात्र नहीं, आंतरिक सत्ता की स्थितियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक को उसकी पूर्णता में सिद्ध करना, अपनी सत्ता में सर्वांगीण बनाना, अर्थात् सत्ता के हर अंग की चेतना को उस स्तर पर उठाना – जहाँ वह आत्मा की द्युति से द्योतित, उसमें रूपांतरित हो जाती है – श्रीअरविन्द के अतिमानसिक योग में अनिवार्य चरण है।

"दिव्य जीवन की ओर" उच्च जीवन के लिए प्रेरित करती है। उच्च चेतना में निवास का महत्व समझाती है। हृदय को आवरणहीन बनाने की, चेतना को प्रदीप की लौ का रूप प्रदान करने की प्रक्रिया सिखाती है। इस समय हमारे हृदय पर पर्दा है। हमारा निवास आत्म-अज्ञान में है। हम सचेतन नहीं हैं। जीवन-मार्ग आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित नहीं हैं। व्यक्ति को सचेतनता में उठाने का प्रयास ही इस पुस्तक का मूल विषय है।
(अंग्रेजी में भी उपलब्ध) मूल्य : ४० रु०

अतिमानस क्या है ! श्रीअरविन्द के द्वारा बार-बार घोषणा करने पर भी इसके अस्तित्व में, पृथ्वी पर अवतरित होने में विश्वास करना मानव बुद्धि के लिए कठिन पड़ रहा है। इसे सरल, बोधगम्य बनाने का प्रयास है "अतिमानस की ओर"। मूल्य : ५० रु०

मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का आत्मा की दिव्यता में रूपान्तर संभव है। रूपान्तर के विषय में हमारी धारणा सुस्पष्ट हो, इसी का प्रयास है, "रूपान्तर की ओर"। मूल्य : ५०रु०

आध्यात्मिकता अपने शुद्धतम रूप में जगत का त्याग नहीं करती है। वरन्, आत्मा की दिव्यता में उसका रूपांतर संभव बनाती है। इसी विषय की चर्चा है – "आध्यात्मिकता का नया स्वरूप"। मूल्य : ५०रु०

भावी क्रांति आध्यात्मिक होगी, मानव मानसिक चेतना से ऊपर उठेगा। अतिमानसिक चेतना उसके लिए स्वाभाविक होगी। इसी विषय का विस्तार है 'भावी क्रांति का स्वरूप'। मूल्य : ५०रु०

वर्तमान समाज का स्तर ऊँचा उठाने के लिए वेदों की उपयोगिता। मनुष्य की व्यक्तिगत तथा समाजगत सभी समस्याओं का समाधान वेद है। यही सब सामग्री "वेद-चक्षु" नामक पुस्तक में उपादान कारण बनी है। मूल्य : १५रु०

नया समाज, जिसे हमने भावी समाज कहा है, जो कि मानवता की भावी नियति है, अतिमानसिक चेतना पर आधारित एक नई आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होगा।

नई आध्यात्मिकता जीवन और जगत का त्याग नहीं करेगी। वरन्, उन्हें स्वीकार कर आत्मा के आलोक से आलोकित करेगी। प्रचलित धर्म अतिमानसिक विधान को समर्पित हो जायेंगे। जो व्यक्ति नये समाज का मार्गदर्शन करेंगे, आत्म-सत्य में निवास उनका स्वाभाविक चेतना स्तर होगा। वे प्रचलित धर्मों से, प्रथाओं से, संप्रदायों से ऊपर होंगे। अतिमानसिक चेतना का प्रकाश उनका प्रथ-प्रदर्शक होगा, जीवन का, कर्मों का आधार होगा। मानव एक ऐसी दिव्य विशालता में आरोहण करेगा, जहाँ स्वार्थ भाव से, जातीय तथा साम्प्रदायिक अहंकार से मुक्त होगा। नया समाज वर्तमान समाज का संशोधित रूप नहीं होगा। इसी विषय की विशद चर्चा है "भावी समाज"। मूल्य : ३० रु०

"विचार संग्रह" मन सीमा के पार विशाल नभ में एक उड़ान है। जहाँ चेतना अपने पंखों को पूरा खोलने में समर्थ होती है। मूल्य : ३० रु०

शास्त्रों की दृष्टि में जीवन क्या है, किस लिए है, उसका स्वरूप कैसा होना चाहिये, सच्ची सफलता किसे कहते हैं, वह कैसे प्राप्त होती है, इसी विषय की चर्चा इन पुस्तकों में हैं। जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार को लक्ष्य रूप में चुना, किन्तु किन्हीं कारणों से, वे चाहे आंतरिक हों या बाह्य, मार्ग तय नहीं कर सके, जो चेतना के उच्च तथा निम्न स्तर के मध्य संघर्षरत हैं, जिनकी सत्ता में मिश्रण है, गति पूर्णतः ऊर्ध्वमुखी नहीं हुई ; स्वार्थ, लोभ, मोह तथा भोगों की अंधकार भरी राहों पर भटक रहे हैं ; उनके लिए ये पुस्तकें उपयोगी सिद्ध होंगी। — ले०

प्राप्ति स्थान :— SABDA श्रीअरविन्द बुक्स डिस्ट्रीब्यूशन एजेंसी, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी—२

जो मन विषयों में रस लेता है, सारहीन वस्तुओं के पीछे दौड़ता है, कामनाओं के जाल बुनता थकता नहीं, धनादि में आसक्त है, जो मन शुद्ध नहीं, शांत नहीं, संयमित नहीं, धैर्यवान नहीं, जिसमें भक्ति-भाव नहीं, घटनाओं में सचेतन होकर हस्तक्षेप करना जिसने नहीं सीखा, वह अपने आपमें बंद है। ऊर्ध्व-चेतना, उच्च प्रेरणाएँ उसमें अवतरित नहीं होतीं। मार्ग अंधकार पूर्ण रहते हैं। भटकना हमारी नियति होती है।

मन जब भीतर छिपी ज्योति के प्रति समर्पित हो जाता है जीवन-नौका सीधी गन्तव्य पर पहुँचती है। दिशाएँ आलोकित हो उठती हैं।

सुखवीर आर्य

दूर हृदय की गहराई में मनुष्य के मनोभाव में, उसकी अभीप्सा में अंतर आया है। उसमें उत्थान देखा जा रहा है- दिव्यता झलक रही है। विशालता गोचर हो रही है। उसकी अन्तर्सत्ता व्यक्तिगत मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण लाभ करना नहीं चाहती। संपूर्ण मानवता की मुक्ति की, उसे मुक्त-चेतना में उठाने की बात सोच रही है। जिनमें आत्मा सजग है और जीवन के हर मोड़ पर चुनाव तथा कर्तव्य का निर्धारण स्वयं करती है, वे सब इस नवीन तथ्य के प्रति सचेतन हैं। मानवता में ईश्वर के प्रति समर्पण का पथ अपना चुके हैं। उनकी साधना एवं संसिद्धि अपने लिए नहीं। व्यक्तिगत मुक्ति की इच्छा से वे ऊपर उठ चुके हैं। मानव जाति का मुक्त चेतना में निवास संभव बनाना उन्होंने लक्ष्य रूप में निर्धारित किया है। नई चेतना, जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक चेतना कहा है उन्हें इसी ओर प्रेरित कर रही है। अपनी आत्मा के पीछे वे उसका दिव्य इंगित अनुभव कर रहे हैं। हृदय गुहा में परमेश्वर के द्वारा उन्हें यही आदेश प्राप्त हो रहा है। एक नये जगत का, दिव्य जगत का आविर्भाव, मानव-जाति में से अतिमानव जाति के विकसित होने की संभावना उनकी दृष्टि में सुस्पष्ट है।

सुखवीर आर्य

Rs. 25.00